वार्षिक रु. ६०.०० मूल्य रु. ८.००

विवेक-ज्योति

वर्ष ४६ अंक ८ अगस्त २००८

रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ. ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अगस्त २००८

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४६
अंक ८

वार्षिक ६०/- एक प्रति ८/-

५ वर्षों के लिए – रु. २७५/-

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ९०/- ; ५ वर्षों के लिए – रु. ४००/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

{सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से बनवायें}

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
०७७१ - २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें —

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव **स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर** से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट – **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना नाम, पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नं. आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

विवेक-चूडामणि

– श्री शंकराचार्य

सहनं सर्वदुःखानामप्रतीकारपूर्वकम् ।
चिन्ताविलापरहितं सा तितिक्षा निगद्यते ।।२४।।

अन्वय – सर्व-दुःखानां चिन्ता-विलाप-रहितं अप्रतिकार-पूर्वकम् सहनम्, सा तितिक्षा निगद्यते ।

अर्थ – सभी प्रकार के दुःखों को, उन्हें दूर करने की चेष्टा और चिन्ता, विलाप आदि किये बिना ही सहन करना 'तितिक्षा' कहलाती है ।

शास्त्रस्य गुरुवाक्यस्य सत्यबुद्ध्यवधारणम् ।
सा श्रद्धा कथिता सद्भिर्यया वस्तूपलभ्यते ।।२५।।

अन्वय – शास्त्रस्य गुरुवाक्यस्य सत्य-बुद्धि-अवधारणम्, यया वस्तु उपलभ्यते, सा सद्भिः श्रद्धा कथिता ।

अर्थ – शास्त्रों तथा गुरु के उपदेश अक्षरशः सत्य हैं, ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि को सन्तगण 'श्रद्धा' कहते हैं, इसी के द्वारा 'वस्तु' अर्थात् आत्म-तत्त्व की प्राप्ति होती है ।

सर्वदा स्थापनं बुद्धेः शुद्धे ब्रह्मणि सर्वथा ।
तत्समाधानमित्युक्तं न तु चित्तस्य लालनम् ।।२६।।

अन्वय - सर्वदा शुद्धे ब्रह्मणि बुद्धेः सर्वथा स्थापनं, तत् समाधानम् इति उक्तं, तु चित्तस्य लालनम् न ।

अर्थ – अपनी बुद्धि को केवल वेदान्त की चर्चा में लगाकर तृप्ति पाना नहीं, अपितु उसे सर्वदा सर्व प्रकार से शुद्ध ब्रह्म में लगाये रखना ही 'समाधान' कहलाता है ।

अहंकारादिदेहान्तान् बन्धानज्ञानकल्पितान् ।
स्वस्वरूपावबोधेन मोक्तुमिच्छा मुमुक्षुता ।।२७।।

अन्वय – अहंकार-आदि-देहान्तान् अज्ञान-कल्पितान् बन्धान् स्व-स्वरूप-अवबोधेन मोक्तुम् इच्छा मुमुक्षुता (कथिता) ।

अर्थ – जीव के अहंकार से लेकर स्थूल शरीर तक के सारे बन्धन अज्ञान से उत्पन्न हुए हैं । अपने स्वरूप के ज्ञान द्वारा इनसे मुक्त होने की तीव्र इच्छा को 'मुमुक्षा' कहते हैं ।

मन्दमध्यमरूपाऽपि वैराग्येण शमादिना ।
प्रसादेन गुरोः सेयं प्रवृद्धा सूयते फलम् ।।२८।।

अन्वय - सा इयं (मुमुक्षुता) मन्द-मध्यम-रूपा-अपि वैराग्येण शम-आदिना गुरोः प्रसादेन प्रवृद्धा फलम् सूयते ।

अर्थ – मुमुक्षा यदि मन्द या मध्यम प्रकार की हो, तो भी वैराग्य, शम-दम-आदि छह सम्पत्तियों और गुरुकृपा की सहायता से वृद्धि पाकर मोक्षफल प्राप्त कराती है ।

वैराग्यं च मुमुक्षुत्वं तीव्रं यस्य तु विद्यते ।
तस्मिन्नेवार्थवन्तः स्युः फलवन्तः शमादयः ।।२९।।

अन्वय – तु यस्य वैराग्यं च मुमुक्षुत्वं तीव्रं विद्यते, तस्मिन् एव शमादयः अर्थवन्तः फलवन्तः स्युः ।

अर्थ – परन्तु जिस साधक में वैराग्य तथा मुमुक्षा की तीव्रता विद्यमान रहती है, उसी में शम आदि छह सम्पत्तियाँ सार्थक तथा मोक्ष-फल प्रदान करनेवाली होती हैं ।

एतयोर्मन्दता यत्र विरक्तत्वमुमुक्षयोः ।
मरौ सलिलवत्तत्र शमादेर्भानमात्रता ।।३०।।

अन्वय – यत्र एतयोः विरक्तत्व-मुमुक्षयोः मन्दता, तत्र मरौ सलिलवत् शमादेः भान-मात्रता ।

अर्थ – जिस साधक के चित्त में इन दोनों – वैराग्य तथा मुमुक्षा की कमी दीख पड़ती है, उसमें मरुभूमि में मरीचिका के समान शम आदि सम्पत्तियों का आभास मात्र होता है ।

अर्थात् वैराग्य तथा मुमुक्षा के बिना ब्रह्मबोध की आकांक्षा दिवा-स्वप्न के समान निरर्थक है ।

विवेकानन्द-वन्दना

– १ –

(केदार,बागेश्री या शंकरा–रूपक)

हे विवेकानन्द स्वामी, शान्ति के तुम दूत हो ।
देवमण्डल के कदाचित्, विचरते अवधूत हो ।।

भारती प्रज्ञा सृजन के, फुल्ल कुसुमित चारु वन के,
परम सुन्दर पुष्प के सम, सम्प्रति उद्‌भूत हो ।।

धर्म का अमृत पिलाने, मर्त्य अवनी को जिलाने,
सप्त-ऋषियों के भुवन से, रामकृष्णाहूत हो ।।

ब्रह्मद्युति सह क्षत्रिय-बल, ले विचरते जग-धरातल,
वन्दना करते जगत्-जन, सर्वथा अभिभूत हो ।।

जागरण का तंत्र देकर, निडरता का मंत्र देकर,
बन गये इतिहास में तुम, मनुज पूर्व-अभूत हो ।।

– ८ –

(मधुवन्ती–कहरवा)

हे ध्यानसिद्ध शतदल-लोचन ।
हरने आये अज्ञान-तमस,
करने आये भव-दुख-मोचन ।।

लेकर शंकर का ज्ञान अहो,
तुम ऋषिमण्डल से आये हो;
तव अनुपम जीवन-कर्म देख,
मोहित पुलकित विस्मित जन-मन ।।

सन्मार्ग-सनातन दिखलाया,
सेवा का दर्शन सिखलाया;
मधुमय सुगन्ध तव वाणी का,
अब व्याप रहा क्रमशः त्रिभुवन ।।

मानव-गरिमा के हस्ताक्षर, वेदान्त-ज्ञान के गुरु-जलधर;
तुम निराकार-वाणी हो पर, साकार हुए धरकर नर-तन ।।

द्रुत भोगवाद हो रहा म्लान, करता नवयुग तव कीर्तिगान;
चरणों में लाया हूँ 'विदेह', स्वीकार करो मेरा जीवन ।।

राष्ट्र-गठन के उपाय

स्वामी विवेकानन्द

स्वामीजी की भारत सम्बन्धी उक्तियों का एक उत्कृष्ट संकलन कोलकाता के रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर ने My India, The India Eternal शीर्षक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है। प्रस्तुत है उन्हीं उक्तियों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

राष्ट्र-निर्माण के अग्रदूतों से

तेजस्वी युवकों का एक दल गठित करो और उसे अपनी उत्साह की अग्नि से प्रज्वलित कर दो। क्रमश: इसकी परिधि का विस्तार करते हुए इस संघ को बढ़ाते रहो।[५१]

मेरा विश्वास युवा पीढ़ी – नयी पीढ़ी में है; मेरे कार्यकर्ता उन्हीं में से आयेंगे और वे सिंहों की भाँति सभी समस्याओं के हल निकालेंगे।[५२]

मेरे वीरहृदय युवको ! ... अन्य किसी बात की जरूरत नहीं, जरूरत है तो केवल प्रेम, निश्छलता और धैर्य की। जीवन का अर्थ ही वृद्धि – विस्तार यानी प्रेम है। अत: प्रेम ही जीवन है, यही जीवन का एकमात्र नियम है; और स्वार्थपरता ही मृत्यु है। इस लोक तथा परलोक में भी यही बात सत्य है। परोपकार ही जीवन है, परोपकार न करना ही मृत्यु। जितने नरपशु तुम देखते हो, उनमें से नब्बे प्रतिशत मृत हैं, प्रेत हैं; क्योंकि मेरे बच्चो, जिसमें प्रेम नहीं है, वह जी भी नहीं सकता। सबके लिये तुम्हारे दिल में दर्द हो – गरीब, अपढ़ एवं पददलित लोगों के दु:ख को तुम महसूस करो, तब तक महसूस करो, जब तक तुम्हारे हृदय की धड़कन न रुक जाय, मस्तिष्क न चकराने लगे और तुम्हें ऐसा प्रतीत होने लगे कि तुम पागल हो जाओगे – फिर अपना दिल खोलकर ईश्वर के चरणों में रख दो; और तब तुम्हें शक्ति, सहायता और अदम्य उत्साह की प्राप्ति होगी। पिछले दस वर्षों से मैं अपना मूलमंत्र घोषित करता आया हूँ – संघर्ष करते रहो; और अब भी कहता हूँ – सतत संघर्ष करते चलो। जब चारों ओर अँधेरा-ही-अँधेरा दिखता था, तब भी मैं कहता था – संघर्ष करते रहो; और अब जब थोड़ा-थोड़ा उजाला दिखायी दे रहा है, तब भी मैं कहता हूँ – संघर्ष करते चलो। डरो मत, मेरे बच्चो ! अनन्त नक्षत्रखचित आकाश की ओर भयभीत दृष्टि से ऐसे मत ताको, मानो वह हमें कुचल ही डालेगा। धीरज रखो। देखोगे कि कुछ ही घण्टों में वह पूरा-का-पूरा तुम्हारे पैरों तले आ गया है। धैर्य रखो। न धन से काम होता है, न नाम से; न यश काम आता है, न विद्या; प्रेम से ही सब कुछ होता है। चरित्र ही कठिनाइयों की संगीन दीवारें तोड़कर अपना रास्ता बना सकता है।[५३]
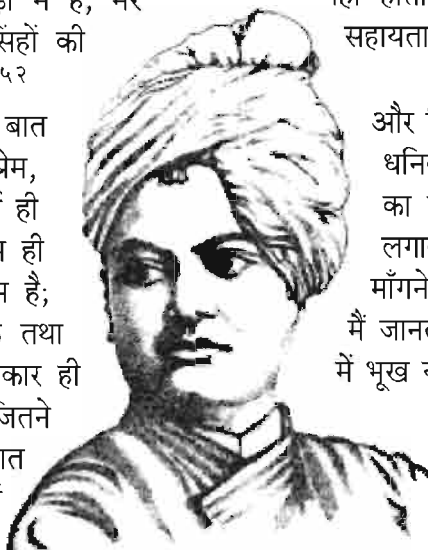
तथोक्त धनिकों पर भरोसा न करो, वे जीवित की अपेक्षा मृत ही अधिक हैं। आशा तुम लोगों से है – जो विनीत, निरभिमानी और विश्वासपरायण हैं। ईश्वर के प्रति आस्था रखो। किसी चालबाजी की जरूरत नहीं; उससे कुछ नहीं होता। दुखियों का दर्द समझो और ईश्वर से सहायता की प्रार्थना करो – वह अवश्य मिलेगी।

मैं बारह वर्ष तक हृदय में यह बोझ लादे और सिर में यह विचार लिये बहुत-से तथाकथित धनिकों और अमीरों के द्वार-द्वार पर घूमा। हृदय का रक्त बहाते हुये मैं आधी पृथ्वी का चक्कर लगाकर इस अजनबी देश (अमेरिका) में सहायता माँगने आया। परन्तु ईश्वर अनन्त शक्तिमान हैं – मैं जानता हूँ, वे मेरी सहायता करेंगे। मैं इस देश में भूख या जाड़े से भले ही मर जाऊँ, पर युवको ! मैं गरीबों, अशिक्षितों और उत्पीड़ितों के लिये इस सहानुभूति और प्राणपण चेष्टा को थाती के तौर पर तुम्हें अर्पित करता हूँ। जाओ – इसी क्षण उन पार्थसारथी (श्रीकृष्ण) के मन्दिर में जाओ, जो गोकुल के दीन-हीन ग्वालों के सखा थे, जो गुहक चाण्डाल को भी गले लगाने में नहीं हिचके, जिन्होंने अपने बुद्धावतार-काल में अमीरों का निमंत्रण अस्वीकार करके एक वारांगना के भोजन का निमंत्रण स्वीकार किया और उसे उबारा; जाओ उनके पास, जाकर साष्टांग प्रणाम करो और उनके सम्मुख एक महाबलि दो, अपने समस्त जीवन की बलि दो – उन दीन-हीनों और उत्पीड़ितों के लिये, जिनके लिये प्रभु युग-युग में अवतार लिया करते हैं; और जिन्हें वे सबसे अधिक प्यार करते हैं। और तब प्रतिज्ञा करो कि अपना सारा जीवन इन तीस करोड़ लोगों के उद्धार-कार्य में लगा दोगे, जो दिनो-दिन अवनति के गर्त में गिरते जा रहे हैं। ...

तथाकथित धनिकों या बड़े लोगों का रुख मत देखो – हृदयहीन, कोरे बुद्धिवादी लेखकों और समाचारपत्रों में प्रकाशित उनके निस्तेज लेखों की भी परवाह न करो। विश्वास, सहानुभूति – दृढ़ विश्वास और ज्वलन्त सहानुभूति चाहिये ! जीवन तुच्छ है, मरण भी तुच्छ है; भूख तुच्छ है, जाड़ा भी तुच्छ है। जय हो प्रभु की ! आगे कूच करो – प्रभु ही हमारे सेनानायक हैं। पीछे मत देखो। कौन गिरा, पीछे मत देखो

– आगे बढ़ो, बढ़ते चलो ! भाइयो, इसी तरह हम आगे बढ़ते जायेंगे – एक गिरेगा, तो दूसरा वहाँ डट जायेगा।[५४]

हमारा मूलमंत्र – त्याग और सेवा

हमारी कार्य-विधि बड़ी सरलता से समझायी जा सकती है। वह है – बस, राष्ट्रीय जीवन को पुन: स्थापित करना। बुद्ध ने 'त्याग' का प्रचार किया था, भारत ने सुना और इसके बावजूद छह शताब्दियों में ही वह अपनी समृद्धि के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गया। यही रहस्य है। भारत के राष्ट्रीय आदर्श हैं; त्याग और सेवा। आप उसकी इन धाराओं में तीव्रता लाइये और बाकी सब अपने आप ठीक हो जायेगा।[५५]

आत्म-विश्वास और आत्मश्रद्धा

सबसे बड़ी बात यह है कि ईश्वर में विश्वास होने से भी पहले, स्वयं में विश्वास रहे, परन्तु कठिनाई यह मालूम होती है कि दिन-प्रतिदिन हमारा स्वयं पर से विश्वास घटता जा रहा है। सुधारकों के विरुद्ध मेरी यही आपत्ति है।[५६]

हमें जिस चीज की जरूरत है, वह है श्रद्धा। दुर्भाग्यवश भारत से इसका प्राय: लोप हो गया है और हमारी वर्तमान दुर्दशा का कारण भी यही है। एकमात्र इस श्रद्धा के भेद से ही मनुष्य-मनुष्य में अन्तर पाया जाता है? इसका और दूसरा कारण नहीं। यह श्रद्धा ही है, जो एक मनुष्य को बड़ा और दूसरे को दुर्बल और छोटा बनाती है। मेरे गुरुदेव कहा करते थे – ''जो अपने को दुर्बल सोचता है, वह दुर्बल ही हो जाता है'' – और यह बिल्कुल सही है। इस श्रद्धा को तुम्हें पाना ही होगा। पश्चिमी जातियों द्वारा प्राप्त की हुई, जो भौतिक शक्ति तुम देख रहे हो, वह इस श्रद्धा का ही फल है। वे अपने दैहिक बल में विश्वासी हैं और यदि तुम अपनी आत्मा पर विश्वास करो, तो वह कितना अधिक कारगर होगा?[५७]

साथ ही तीव्र कर्मठता भी चाहिये

हम वही उद्यम, वही स्वाधीनता का प्रेम, वही आत्म-निर्भरता, वही अटल धैर्य, वही कार्यदक्षता, वही एकता और वही उन्नति-तृष्णा चाहते हैं। हम बीती बातों की उधेड़-बुन छोड़कर अनन्त तक विस्तारित अग्रसर दृष्टि चाहते हैं। और आ-पाद-मस्तक नस-नस में बहनेवाला रजोगुण चाहते हैं।[५८]

प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक राष्ट्र को महान् बनाने के लिये तीन चीजें आवश्यक हैं –

१. सदाचार की शक्ति में विश्वास।

२. ईर्ष्या और सन्देह का परित्याग।

३. जो सत् बनने या सत् कर्म करने के लिये यत्नवान हो, उनकी सहायता करना।[५९]

संगठन की शक्ति का हमारे स्वभाव में पूर्ण अभाव है, परन्तु हमें उसका विकास करना होगा। इसका सबसे बड़ा रहस्य है – ईर्ष्या का अभाव होना। अपने भाइयों के विचारों को मान लेने के लिये सदैव प्रस्तुत रहो और उनसे हमेशा मेल बनाये रखने की चेष्टा करो। यही सम्पूर्ण रहस्य है।[६०]

तुम्हारे लिये यह परम आवश्यक है कि अपनी शक्ति को व्यर्थ नष्ट करना और प्राय: निरर्थक बातें बनाना छोड़कर, अंग्रेजों से नेताओं की आज्ञा का तुरन्त पालन, ईर्ष्याहीनता, अथक लगन और अटूट आत्मविश्वास की शिक्षा प्राप्त करना। अंग्रेज जब किसी काम के लिये एक नेता चुन लेते हैं, तो हार-जीत में सदा उसका साथ देते हैं और उसकी आज्ञा-पालन करते हैं। यहाँ भारत में हर व्यक्ति नेता बनना चाहता है, आज्ञा-पालन करनेवाला कोई भी नहीं है। आज्ञा देने की क्षमता प्राप्त करने से पहले प्रत्येक व्यक्ति को आज्ञा-पालन करना सीखना होगा। हमारी ईर्ष्याओं का कहीं अन्त नहीं है; और जो हिन्दू जितना अधिक महत्त्वपूर्ण है, वह उतना ही अधिक ईर्ष्यालु है। जब तक हिन्दू ईर्ष्या से बचना और नेताओं की आज्ञा का पालन करना नहीं सीखते, उनमें संगठन की क्षमता नहीं आयेगी।[६१]

मुझे आशा है, हममें से प्रत्येक में पर्याप्त उदारता होगी और साथ ही इतनी दृढ़ निष्ठा भी होगी ...। मैं 'कट्टरता' वाली निष्ठा भी चाहता हूँ और भौतिकवादियों का उदार भाव भी चाहता हूँ। हमें ऐसे ही हृदय की जरूरत है, जो समुद्र-सा गम्भीर और आकाश-सा उदार हो। हमें संसार की किसी भी उन्नत जाति की तरह उन्नतिशील होना है और साथ ही अपनी परम्पराओं के प्रति वही श्रद्धा तथा निष्ठा रखनी है।[६२]

❖ (क्रमश:) ❖

सन्दर्भ-सूची –

५१. विवेकानन्द साहित्य, (सं. १९८९), खण्ड २, पृ. ३५७; **५२.** वही, खण्ड ४, पृ. २६१; **५३.** वही, खण्ड ३, पृ. ३३२-३३; **५४.** वही, खण्ड १, पृ. ४०४-०६; **५५.** वही, खण्ड ४, पृ. २६५; **५६.** खण्ड ४, पृ. २६१; **५७.** वही, खण्ड ५, पृ. २१३; **५८.** वही, खण्ड १०, पृ. १३५; **५९.** वही, खण्ड २, पृ. ३२४; **६०.** वही, खण्ड २, पृ. ३८२; **६१.** वही, खण्ड ४, पृ. २५५; **६२.** वही, खण्ड ५, पृ. ७१
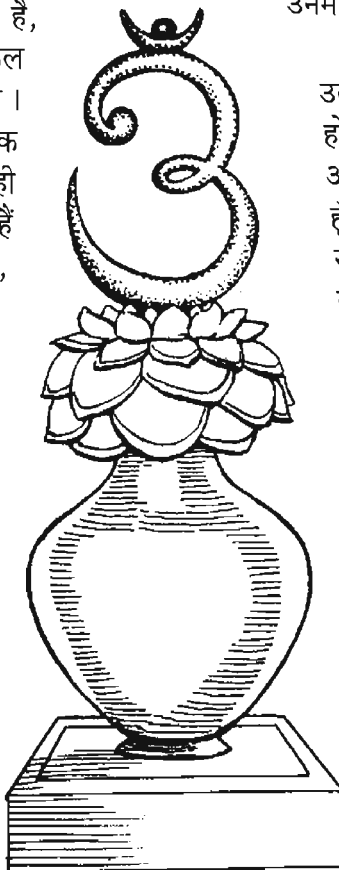
श्री हनुमत्-चरित्र (६/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९९१ ई. के अप्रैल-मई में रामकृष्ण आश्रम, राजकोट के तत्त्वावधान में पण्डितजी के जो प्रवचन हुए थे, 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से इन्हें लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने।

भगवान शंकर के दोनों गण समझ गये कि नारदजी यह मानते हैं कि हमारे त्रिभुवन गुरु शंकरजी में दोष है। वे दोनों नारद के पीछे लग गये – जरा देखें, पता लगायें कि नारद करते क्या हैं? ये दोनों सर्वत्र नारद के पीछे लगे हुये हैं और जब नारद बन्दर की आकृति लेकर विश्वमोहिनी की स्वयंवर-सभा में बैठे, तो दोनों में से एक उनके दाहिने और दूसरा उनके बायें बैठ गया। दोनों आपस में कहने लगे – वाह-वाह ! भगवान ने इनको क्या सुन्दरता दी है –

नीकि दीन्हि हरि सुन्दरताई ।।
रीझिहि राजकुअँरि छबि देखी ।
इन्हहि बरिहि हरि जानि बिसेषी ।। १/१३४/३-४

नारदजी ने सोचा कि सचमुच जब दाहिने और बायें – दोनों ओर के कह रहे हैं कि बड़े सुन्दर हैं, तो मैं सुन्दर ही तो होऊँगा। परन्तु व्यक्ति को ऐसी भूल नहीं करनी चाहिये। दाये-बायें बैठनेवाले यदि बहुत प्रशंसा करें, तो उसको तुरन्त सही नहीं मान लेना चाहिये। जाकर शीशे में देख लेना चाहिये कि आप सचमुच सुन्दर दिख रहे हैं या नहीं। कहीं लोग आपकी हँसी तो नहीं उड़ा रहे हैं। पर वहाँ नारदजी की वही स्थिति हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि विश्वमोहिनी जब आई, तो नारदजी व्यग्र हैं कि वह मेरे गले में जयमाला डालेंगी, पर उनके गले में तो जयमाला डालना दूर, विश्वमोहिनी ने जो दूर से देखा कि नारद बन्दर के रूप में बैठे हैं, तो उन्होंने निर्णय कर लिया कि जिस पंक्ति में वे बैठे हुये हैं, उधर तो मैं जाऊँगी ही नहीं। वे तीन ओर गईं और उधर चौथी ओर गई ही नहीं। नारदजी बड़े दुखी हुए कि मेरे सामने की तो बात क्या, इस दिशा में ही नहीं आ रही हैं। अन्त में भगवान आये, विश्वमोहिनी ने उनके गले में जयमाला पहना दी। भगवान चले गये और तब रुद्रगणों को मौका मिला – अच्छा, हमारे गुरुजी से ऊँचे बढ़ रहे थे? क्या दुर्दशा हुई? जरा जाकर अपना मुँह शीशे में तो देख लीजिये –

निज मुख मुकुर बिलोकहु जाई ।। १/१३५/६

नारदजी ने शीशे में नहीं, जल में देखा। क्रोध आ गया और शाप दे दिया – तुम दोनों राक्षस हो जाओ। इसमें बड़ा तात्पर्य है। नारदजी को बन्दर की आकृति मिलने का क्या अर्थ है? बन्दर बड़ा कामी होता है और भगवान ने उन्हें बन्दर अर्थात् कामी की आकृति दे दी। पर भगवान ने नारद को वह आकृति उनके अपमान के लिये नहीं, भलाई के लिये दी।

रुद्रगणों द्वारा हँसी उड़ाने पर नारद ने उन्हें राक्षस हो जाने का शाप दिया। इसका अर्थ यह है कि किसी में यदि दोष है, तो आप उसे बन्दर या कुछ और मान लीजिये। परन्तु दूसरों के दोष देखकर उसकी हँसी उड़ाना तो राक्षसी वृत्ति है। यह राक्षसी वृत्ति रावण तथा कुम्भकर्ण के रूप में सामने आती है। व्यक्ति में अगर कोई दोष है, तो आपका कर्तव्य है कि उसके दोष से शिक्षा लें कि कहीं हममें यह दोष न आ जाये, या चाहें कि यह व्यक्ति दोष से बच जाये; परन्तु सामने वाले के दोष को देखकर हँसना, उसको व्यंग्य की दृष्टि से देखना, यह तो राक्षसी वृत्ति है। इसलिये नारदजी तो केवल कुछ समय के लिये ही बन्दर बने, परन्तु ये रुद्रगण जन्म भर के लिये रावण और कुम्भकर्ण बन गये।

इन गणों और भगवान शंकर में भेद क्या है? पहले तो उन गणों ने नारदजी से प्रार्थना की, फिर उन्होंने शंकरजी को बताने की चेष्टा की कि नारद की यह दशा हुई और उन्होंने हमें शाप दे दिया। शंकरजी ने जब उसे सुना, तो उनके नेत्रों से प्रेम के आँसू छलक आये, गद्गद हो गये। उन्होंने कहा – धन्य हैं नारद ! गणों को आश्चर्य हुआ।

शंकरजी ने कहा – "देखो, उनमें इतने दोष आ गये, लेकिन प्रभु उनसे कितना प्रेम करते हैं कि उन्होंने उन्हें माया से बचा लिया। यदि वे सचमुच सुन्दर दिखाई देते, तो क्या परिणाम होता? यदि विश्वमोहिनी पास में चली जाती, तो ... ! अत: शंकरजी को यह लगा कि यह तो प्रभु की कृपा है कि नारद को बचाने के लिये उन्होंने ऐसा रूप दे दिया कि जिससे माया दूर ही रही। माया दूर रहे – इससे बढ़कर कृपा क्या होगी ! फिर साथ ही जब उनसे कहा गया कि जिधर नारद बैठे हुये थे, विश्वमोहिनी उस पंक्ति में गई भी नहीं, तो भगवान शंकर ने कहा कि इसका अर्थ यह है कि **भगवान का कृपापात्र जिधर बैठ जाता है, माया उसके आसपास भी नहीं जातीं।** नारद के प्रति प्रभु की कितनी कृपा है ! साथ ही उन्होंने कहा – "देखो, कितना अच्छा हुआ, वे बेचारे जो तीन ओर की पंक्तियों में बैठे हुये थे, उन्हें माया कहाँ मिली ! वे जब-जब आतीं, तो आशा बँधती और चली जातीं, तो

निराश हो जाते थे, पर ये चौथी पँक्ति वाले सबसे सुखी थे, जिन्हें विश्वमोहिनी के आने की आशा ही नहीं रह गयी थी। भगवान शंकर ने सोचा कि प्रभु ने नारद को बन्दर बनाया, पर मुझे यदि प्रभु की सेवा करनी है, तो मैं स्वयं बन्दर ही बनकर सेवा करूँ। बन्दर बनने का स्वयं निर्णय किया। – क्यों?

बोले – प्रभु यदि मुझे बड़ा बालक मानते होंगे और नारद को छोटा बालक, तो शिव-रूप में उस ज्ञान और अभिन्नता का आनन्द तो मैंने पा ही लिया, पर नारद को जो आनन्द मिला, प्रभु से ऐसा प्रेम मिला, इतनी कृपा करके उन्हें बन्दर की आकृति दी। अत: शंकरजी स्वयं जान-बूझकर बन्दर का रूप ग्रहण कर लेते हैं, छोटे बालक का आनन्द लेने के लिये छोटे बन जाते हैं। यह बड़े बनने की नहीं, छोटे बनने की साधना है। शंकरजी बड़े तो हैं ही, उससे बड़े अब क्या बनेंगे? शंकरजी की यह छोटे बनने की साधना है। ज्ञान की साधना – ब्रह्म से एकत्व पाकर बड़े-से-बड़े बन जाने की साधना है। और भक्ति की साधना में छोटे-से-छोटे हो जाने की चेष्टा करना है। शिव बन्दर बने और बन्दर बनकर भी वे कितने निरभिमानी हैं ! वे यही चाहते हैं कि मैं बड़ा बालक नहीं, छोटा बालक ही मान लिया जाऊँ।

भगवान ने नारद से कहा था कि ज्ञानी मेरे बड़े बालक हैं, भक्त मेरे छोटे बालक हैं। शंकरजी को लगा कि प्रभु ने नारद-रूपी छोटे बालक को जो वात्सल्य दिया है, हम भी तो छोटे बनकर जरा उस वात्सल्य का, उस कृपा का अनुभव करें। अत: हनुमानजी के रूप में उन्होंने सेवा का व्रत स्वीकार किया, स्वामित्व का नहीं। शिव के रूप में तो स्वयं भगवान राम ही उनकी पूजा करते हैं, परन्तु शिव के स्थान पर जब उन्होंने वानर की आकृति स्वीकार की, तो इसके पीछे क्या रहस्य था? उनको याद था कि जब कोई किसी वर्ण में जन्म लेता है, तो वह स्वयं मान लेता है कि मेरा यह काम है, मैं इसे छोड़कर दूसरा काम नहीं करूँगा या फिर सामने वाला यदि मर्यादावादी होता है, तो वह कहेगा कि मैं तो आपसे यही काम ले सकता हूँ, दूसरा काम तो मैं आपसे नहीं कराऊँगा। बन्दर बन जाने का लाभ यह है कि शंकरजी वर्णभेद के परे चले जाते हैं। हनुमानजी किस वर्ण के हैं? ब्राह्मण हैं या क्षत्रिय, वैश्य हैं या शूद्र?

कई बार तो जाति और वर्ण को लेकर होनेवाली चर्चा को देखकर मैं चकित रह जाता हूँ। एक बार पत्र-पत्रिकाओं में विवाद छिड़ गया कि शबरी किस जाति की थी? एक विशेष व्यक्ति सिद्ध करने लगे कि वे ब्राह्मणी थीं। मानो यह मान लिया गया कि भक्ति के लिये ब्राह्मण या ब्राह्मणी होना ही आवश्यक है। यह तो कोई बड़ी बुद्धिमत्ता की बात नहीं हुई। यह तो भक्ति की महिमा को कम करना है। जो समस्या पहले थी और आज भी है कि व्यक्ति कहीं-न-कहीं वर्ण को अभिमान से जोड़कर अपने को बड़ा मान लेता है। समाज में दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं। एक वे हैं, जिन्हें आप छोटा या नीचा कहते हैं और एक वह है, जो अपने को ऊँचा मानता है। जो अपने को ऊँचा मानता है, वह अभिमान का रोगी हो गया और जिसको नीचा बताया गया, वह बेचारा दीनता का रोगी हो गया। दृष्टान्त के रूप में कहें कि शरीर का दुबला होना अच्छा है या मोटा होना? इसका उत्तर यही है कि बहुत दुबला होना भी अच्छा नहीं, बहुत मोटा होना भी अच्छा नहीं, बीच का हो तभी ठीक है। इसका अर्थ हुआ कि अभिमान वाले मोटा गये हैं और जो बेचारे दीन-हीन हैं, वे बहुत दुबले हो गये हैं। गोस्वामीजी ने बड़ी सुन्दर व्याख्या की। भगवान राम क्या चाहते हैं? बोले – बड़ों में जो अभिमान होता है, वे उस अभिमान को दूर कर देते हैं और जिन्हें छोटा माना जाता है, प्रभु उनकी दीनता दूर कर देते हैं –

बड़े की बड़ाई छोटे की छोटाई दूरि करै ।। वि.प. १८३

अत: व्यक्ति में न अभिमान हो और न हीनता हो। सब लोग कहें कि तुम तो नीच हो, छूने योग्य नहीं हो, तुम दूर रहो। बेचारा सुनते-सुनते अपने को इतना हीन मान बैठे, तो भी समाज के लिये दुखदाई है। भगवान श्रीराम अपने चरित्र के द्वारा बड़ा अद्भुत कार्य करते हैं।

हनुमानजी की भूमिका और विशेषता ही वस्तुत: सबसे बड़ा समझने योग्य प्रसंग है। हनुमानजी कभी आपको ब्राह्मण के रूप में दिखाई देते हैं, कभी क्षत्रिय के रूप में दिखाई देते हैं, कभी वैश्य के रूप में दिखाई देते हैं, कभी शूद्र के रूप में दिखाई देते हैं और कभी इन चारों वर्णों से भी आगे बढ़कर अपने को पशु के रूप में दिखाने की चेष्टा करते हैं। वे इन सभी वर्णों के धर्म का सदुपयोग करते हैं, पर अभिमान कहीं भी नहीं आने देते।

प्रभु ने जब हनुमानजी से कहा – जब तुम ब्राह्मण बनकर आये तो तुमने आकर मुझे प्रणाम क्यों कर दिया; तो वे हनुमानजी की परीक्षा लेकर उन्हीं के मुख से सही बात कहलाना चाहते थे। हनुमानजी बोले – प्रभो, क्या ब्राह्मण का यही एक लक्षण है कि जो किसी को प्रणाम न करे, वही पक्का ब्राह्मण है और यदि यही ब्राह्मण का लक्षण हो, तो वह गुण तो मुझमें नहीं है। अब आप ही बताइये कि आपकी दृष्टि में ब्राह्मण का सच्चा लक्षण क्या है? तो शास्त्रों में जो वाक्य है, उसी को प्रभु को दोहराना पड़ा। प्रभु बोले – **ब्रह्म जानाति इति ब्राह्मण:** । – जो ब्रह्म को जानता है, वही ब्राह्मण है। तब हनुमानजी ने उनके चरणों को पकड़कर कहा – जब मैंने आपको प्रणाम किया, तो क्षत्रिय मानकर प्रणाम किया या ब्रह्म मानकर किया। क्षत्रिय मानता होता, तो प्रणाम नहीं करता और प्रणाम किया, तो ब्रह्म मानकर ही किया, इसलिये पक्का ब्राह्मण तो मैं ही हूँ। आपको जब मैंने ब्रह्म के रूप में

पहचान लिया, तो क्या ब्राह्मणत्व का यही सबसे बड़ा लक्षण नहीं है? प्रभु ने उन्हें हृदय से लगा लिया – मैंने मान लिया कि तुमसे उच्च कोई ब्राह्मण हो ही नहीं सकता। वे श्रीराम को व्यक्ति मानकर प्रणाम नहीं कर रहे हैं, उन्हें तो साक्षात् ब्रह्म दिखाई दे रहा है और फिर ब्राह्मण बनने के बाद जो संवाद हुआ और हनुमानजी ने प्रभु के चरण पकड़ लिये, तो प्रभु ने हनुमानजी से बड़ा मधुर विनोद किया। बोले – मैंने तो अपना चरित्र आपको गाकर सुना दिया और ब्राह्मण देवता ! अब आप भी अपनी कथा सुनाइये –

आपन चरित कहा हम गाई ।
कहहु बिप्र निज कथा बुझाई ।। ४/२/४

चरित्र और कथा में बड़ा भेद है। प्रभु ने कहा कि मैंने तो अपना चरित्र सुना दिया पर मैंने सुना है कि ब्राह्मणों का कार्य कथावाचन है, तो कथा-वाचकजी, आप अपनी कथा सुनाइये। बड़ी विचित्र बात है ! प्रभु ने कहा – मैंने अपना चरित्र गाकर सुनाया, तो वहाँ कौन-से बाजे बज रहे थे ! क्या हारमोनियम, तबला या सितार बज रहा था ! भगवान यह भी कह सकते थे कि मैंने अपना चरित्र सुनाया। पर रामायण में आता है कि प्रभु ने कहा – मैंने गाकर अपना चरित्र सुनाया।

अब पूछा जाय कि उन्होंने किस राग में गाकर सुनाया? संगीत वाले गायक किसी-न-किसी राग में सुनाते हैं। परन्तु भगवान को तो एक ही राग आता है और वह है भक्त-राग। इसे छोड़कर उन्हें अन्य किसी भी राग का ज्ञान नहीं है। जब वे गाते हैं, तो भक्त के गुण ही गाते हैं। और जब भक्त गाता है, तो किस राग में गाता है? आप सुनते होंगे कि इसने इस राग या इस रागिनी में गाया, लेकिन भक्त के पास तो बस एक ही राग है। कबीर ने बड़ी सुन्दर बात कही। किसी ने पूछा – महाराज, आप गाते नहीं हैं? उन्होंने कहा – हाँ, उस तरह से तो नहीं गाता हूँ, लेकिन मैं भी गाता हूँ। – कैसे गाते हैं? तो उन्होंने शरीर की तुलना तम्बूरे से करते हुए कहा – आपने देखा होगा, तम्बूरे में तार होता है। तो तम्बूरा कोई बजाने लगता है, तो तम्बूरे में तार के लिये जो खूँटी होती है, पहले वह उसमें तार को कसता है। क्योंकि यदि तार ढीला रह जाये, तो भी स्वर अच्छा नहीं निकलेगा और बहुत कसकर घुमा दे, तो तार ही टूट जायेगा। तो बुद्धिमान होगा, तो ठीक-ठीक देखेगा कि तार न टूटे और न ढीला रहे। कबीरदासजी बोले – मेरा यह शरीर ही तम्बूरा है। और ये इन्द्रियाँ ही मानो तार हैं और विवेक ही खूँटी है –

खैंचत तार मरोड़त खूटी, बाजत राग हुजूरे का ।।

विवेक के द्वारा मैं इन्द्रियों को ठोक-ठाक कर ऐसी स्थिति में रखता हूँ कि वे तार ठीक से बजने लगें। किसी ने उनसे पूछ दिया – आप कौन-सा राग गाते हैं? इस पर उन्होंने बड़ी अच्छी बात कही, बोले – जब मैं गाता हूँ, तो एक ही राग निकलता है। – कौन-सा? – **बाजत राग हुजूरे का** – बस, ईश्वरीय-राग बजने लगता है। भक्त जब गायन करता है, तो ईश्वरीय-राग का गायन करता है। भगवान जब गायन करते हैं, तो भक्त-राग का गायन करते हैं। ईश्वर भक्त के गुण गाते हैं और भक्त ईश्वर के गुण गाता है।

प्रभु ने मुस्कुराकर कहा – आप तो बड़े विद्वान् वक्ता लग रहे हैं, कथा सुनाइये। हनुमानजी साक्षात् पवनपुत्र हैं, उनका चरित्र इतना अद्‌भुत है, पर अपना परिचय देते समय उन्होंने न पवन का नाम लिया, न अंजनी का नाम लिया और न यही कहा कि मैं शंकर का अवतार हूँ। बस इतना ही बोले – प्रभो, मैं मन्द हूँ, मोहवश हूँ, कुटिल-हृदय हूँ, अज्ञानी हूँ –

एकु मन्द मैं मोहबस कुटिल हृदय अग्यान ।। ४/२

प्रभु ने हनुमानजी से कहा – मैंने कथा सुनाने को कहा और तुम लगे व्यथा सुनाने। यह कोई कथा हुई? मैं मन्द हूँ मोहवश हूँ। हनुमानजी बोले – "प्रभो, कथा तो केवल आप की होती है, जीव के पास तो व्यथा ही होती है। अच्छा तो यही होगा कि जीव आपकी कथा सुन ले और आप उसकी व्यथा सुन लें। दोनों जब एक दूसरे की बात सुन लेंगे, तो बस कल्याण हो जायेगा। जब आप जीव की व्यथा सुनेंगे, तब आपके हृदय में करुणा का उदय होगा, आपको दया आयेगी और जीव जब आपकी कथा सुनेगा, तो उसके हृदय में प्रेम आवेगा। और जब प्रेम तथा करुणा का मिलन होगा, तभी तो जीव धन्य होगा। इसलिये प्रभो, व्यथा सुनाना छोड़ कर कथा-वाचकत्व का और क्या सदुपयोग है !

प्रभु ने कहा – ठीक है, आपने अपने चार अवगुण तो बता दिये, पर आपको दुःख किस बात का है? मन्द होने का या मोहवश होने का या कुटिल-हृदय होने का या अज्ञानी होने का? उन्होंने कहा – महाराज, चारों का नहीं; दुःख तो एक ही है कि आपने पूछा कि ब्राह्मण देवता, तुम कौन हो, इसे सुनकर मुझे बड़ा दुःख हुआ कि आप मुझे भूल गये –

पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबन्धु भगवान ।। ४/२

जीव में अवगुण हों, तो भी यदि आप उसे याद रखें, तो वह धन्य है। पर यदि आप ही जीव को भूल जायँ, तो उसके लिये इससे बढ़कर दुःख की बात क्या होगी? आप मुझसे पूछ रहे हैं कि तुम कौन हो? प्रभु बोले – तुमने भी तो मुझसे पूछा। हनुमानजी ने कहा – मेरा पूछना बिल्कुल ठीक था –

मोर न्याउ मैं पूछा साईं ।
तुम्ह पूछहु कस नर की नाईं ।। ४/२/८

ईश्वर की तो बात ही और है, सामान्य व्यक्ति से भी पुराना परिचय हो, तो वह अवश्य चाहता है कि जब आप उससे मिलें, तो देखते ही पहचान लें। व्यवहार में हमें कई बार ऐसा अनुभव होता है। इतने शहरों की यात्रा होती रहती है। कई लोग बहुत पास आ जाते हैं और कुछ लोग एकाध बार

मिलते हैं। जब उन्हें लगता है कि मैंने उन्हें पहचाना नहीं, तो पूछ देते हैं – आपने मुझे पहचाना नहीं? अब मैं क्या कहूँ? नहीं – कह दूँ, तो दुखी होंगे। हाँ – कह दूँ, तो भी ठीक नहीं है। उनके हृदय को कष्ट न हो, इसलिये कह देता हूँ – पहचान रहा हूँ। पर यह सुनकर भी पीछा नहीं छोड़ते, कह देते हैं – यदि पहचाना, तो मेरा नाम बताइये। बड़े संकट की बात, नाम तो मुझे याद नहीं। किसका-किसका नाम याद रखूँ! यह तो हमारी समस्या हो सकती है, पर यदि ईश्वर ही किसी का नाम भूल जाय, किसी जीव को भूल जाय, तो यह बड़े आश्चर्य की बात है। हनुमानजी बोले – "अब भी आप मुझे ब्राह्मण देवता कहे जा रहे है ! आप मेरा नाम भूल गये हैं क्या? हम दोनों का परिचय नया है क्या?" स्मरण रहे हनुमानजी ने अपना नाम बिल्कुल नहीं बताया। अन्ततः भगवान ने स्वयं उनका नाम लिया। आगे चलकर लिखा हुआ है कि प्रभु ने हनुमानजी को हृदय से भी लगा लिया, आँसुओं से भिगो भी दिया, पर जब प्रभु हनुमानजी को उपदेश देने लगे, तब प्रभु के मुँह से निकल गया –

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत ।।

हनुमानजी गद्गद हो गये। बस यही सुनने के लिये तो व्यग्र था कि आपको याद है। इसीलिये प्रभु ने यहाँ तक कह दिया कि तुम्हारा नाम भूलना तो दूर रहा (लक्ष्मणजी पास में थे), कहा – तुम तो लक्ष्मण से भी दूने प्यारे हो –

सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना ।
तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना ।। ४/३/७

इसीलिये जब हनुमानजी माँ के पास गये और माँ ने उलाहना दिया कि प्रभु ने मुझे भुला दिया है –

कोमल चित कृपाल रघुराई ।
कपि केहि हेतु धरी निठुराई ।। ५/१४/४

तो हनुमानजी बोले – माँ, मैं तो कहूँगा कि जितना प्रेम आप प्रभु से करती हैं, उससे दूना प्रेम वे आपसे करते हैं –

जनि जननी मानहु जियँ ऊना ।
तुम्हते प्रेमु राम कें दूना ।। ५/१४/१०

यह दूनावाला पाठ उन्होंने प्रभु से ही सीखा था। इसके बाद हनुमानजी सहसा ब्राह्मण से बन्दर बन गये। ब्राह्मणत्व को उन्होंने बोझ नहीं बनने दिया, अभिमान का साधन बनने नहीं दिया। पशु क्यों बन गये? हनुमानजी प्रभु से प्रस्ताव करने वाले थे कि आप मेरी पीठ पर, मेरे कन्धे पर बैठ जाइये। पर वे जानते थे कि यदि मैं ब्राह्मण के रूप में कहूँ कि मेरी पीठ या कन्धे पर बैठ जाइये, तो प्रभु बड़े मर्यादा-रक्षक हैं, वे तो यही कहेंगे – नहीं, मैं भला ब्राह्मण के कन्धे पर कैसे बैठ सकता हूँ? तो जान-बूझकर पशु बन गये। बोले – महाराज, मनुष्य मनुष्य के कन्धे पर भले न बैठे, पर पशु के कन्धे पर तो बैठ ही जाता है, तो आप मेरे कन्धे पर बैठ जाइये। प्रभु दो बार पशु पर बैठे। एक तो दूल्हा बनकर जनकपुर जाते समय घोड़े पर बैठे और दूसरी बार हनुमानजी की पीठ पर। किसी ने प्रभु से कहा – विचित्र आपका न्याय है। जिस घोड़े पर आप बैठे थे, वह काम था –

जनु बाजि बेषु बनाइ मनसिजु ।। १/३१६/छं.

हनुमानजी कामारि शंकर के अवतार हैं। तब तो आप काम के पीठ पर भी सवार हैं और कामारि के कन्धे पर भी सवार हैं। क्या ही विचित्र दरबार है? भगवान ने हँसकर कहा – देखो भाई, लक्ष्य तो दोनों बार एक ही था। उस समय भी मैं सीताजी को पाने के लिये घोड़े पर बैठा और आज भी मैं सीताजी को पाने के लिये ही हनुमान के कन्धे पर बैठा, इसलिये चाहे काम हो अथवा कामारि हो, जो कोई भी मुझे भक्ति से मिलाये, मैं उसी को स्वीकार कर लेता हूँ।

फिर हनुमानजी जब युद्ध करते हैं, तो क्षत्रिय जैसा युद्ध करते हैं, बल्कि हनुमानजी जैसा युद्ध करते हैं, वैसा तो कोई कर ही नहीं सकता। वैश्य के जैसे वे धनिकों में भी अद्वितीय हैं। जब वे भगवान को ही ऋणी बना लेते हैं, तो सोचिये कि वे व्यापारी भी कितने बड़े हैं। भगवान कहते हैं –

देबे को न कछू रिनियाँ हौ ।। वि. प. १००

शुद्र के रूप में तो वे हर तरह की सेवा के लिये तैयार रहते हैं। कहते हैं – मैं किसी वर्णवाला नहीं हूँ। कोई भी सेवा लेने में आपको आपत्ति नहीं होनी चाहिये। इतना ही नहीं, जब वे लंका जलाकर लौटे, तो प्रभु प्रशंसा करने लगे। उस समय हनुमानजी ने क्या किया? जब प्रभु प्रशंसा करने लगे, तो हनुमानजी प्रभु का मुख देखने लगे –

सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख ।। ५/३२

हनुमानजी तो बस चरणों पर ही दृष्टि रखते हैं। प्रभु ने मुस्कराकर कहा – मुख तो तुम कभी देखते ही नहीं थे, चरण देख-देखकर थक गये, तो चलो तुमने मेरा मुख तो देखा। हनुमानजी बोले – नहीं प्रभो, मुझे तो चरणों में ही रहने दीजिये। – तो फिर मेरा मुख क्यों देख रहे हो। बोले – जब आप प्रशंसा करने लगे, तो मुझे याद आया कि जब नारदजी आये थे, तब आपने उनकी भी प्रशंसा की थी; मैं सोचने लगा कि उसी तरह की प्रशंसा हो रही है क्या? मैंने देख लिया कि वह तो व्यंग्य में था, पर अभी आपने हृदय से प्रशंसा की। फिर उन्होंने प्रभु के चरणों को पकड़कर कहा – यह प्रशंसा मेरा कुछ बिगाड़ नहीं सकेगी। – क्यों? – आपने उनको बन्दर बनाकर उनकी बुराई से रक्षा की थी और मैं तो पहले से ही आपका बन्दर बना हुआ हूँ, तो मेरा किसी बुराई से हारने का कोई प्रश्न ही नहीं है। इस प्रकार हनुमानजी समस्त वर्ण, समस्त आश्रम और समस्त धर्मों का पालने करते हुए, अपने चरित्र में जो निरभिमानता दिखाते हैं, वह सचमुच ही उनका अनूठापन है। ❖ (क्रमशः) ❖

भागवत की कथाएँ (१२)

स्वामी अमलानन्द

(श्रीमद् भागवतम् पुराणों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। उसकी कथाओं ने युग-युग से मनुष्य को धर्म के प्रति आस्था-विश्वास दिया है जिससे भारतवासियों ने दृढ़ आत्म-विश्वास प्राप्त किया है। उन्हीं कथाओं में से लेखक ने कुछ का चयन करके सरल भाषा तथा संक्षेप में पुनर्लेखन किया है। 'विवेक-ज्योति' के लिये इस ग्रन्थ का सुललित अनुवाद किया है छपरा के डॉ. केदारनाथ लाभ, डी. लिट्. ने। – सं.)

सुदर्शन-शंखचूड़-अरिष्टासुर वध

श्रीकृष्ण की बाल-लीला में अनेक अद्भुत घटनाएँ घटी हैं। कुछ घटनाओं का पहले ही उल्लेख किया गया है; रास-लीला के बाद की अन्य घटनाओं का यहाँ वर्णन किया जा रहा है। एक बार राजा नन्द उत्सव के उपलक्ष्य में सरस्वती नदी के तट पर रात्रिवास कर रहे थे, उसी समय एक विशाल सर्प ने उन पर आक्रमण कर दिया। उस विपत्ति से बालक गोपाल ने नन्द राजा को मुक्ति प्रदान की। गोपाल ने ज्योंही आकर सर्प का पाँव से स्पर्श किया, त्योंही उसके भीतर से सुदर्शन नामक एक अभिशप्त विद्याधर बाहर निकल आया।

कुबेर के एक अनुचर – शंखचूड़ ने व्रजधाम में आकर उपद्रव करना आरम्भ किया। एक दिन वह गोपिकाओं को धमका कर उत्तर की ओर ले गया। नारियों की आर्तनाद सुनकर दोनों बालकों – कृष्ण-बलराम ने ज्योंही शंखचूड़ पर आक्रमण किया, त्योंही उस कुबेर-अनुचर ने प्राणों के भय से भाग निकलने की चेष्टा की। परन्तु श्रीकृष्ण ने उसे पकड़कर उसके सिर से चूड़ामणि निकाल लिया और अपने बड़े भाई बलराम के हाथों में सौंप दिया।

एक अन्य दिन देखा गया कि अरिष्ट नामक एक असुर ने एक विशालकाय बैल का रूप धारण करके व्रजभूमि में अत्याचार करना शुरू कर दिया है। गोपिकाएँ भय से इधर-उधर भाग गयीं। बालक श्रीकृष्ण ने असुर को धरती पर पटक कर पाँवों से मर्दन करते हुए उसे मार डाला।

अक्रूर और कृष्ण-बलराम

श्रीकृष्ण द्वारा अरिष्टासुर का वध करने के कुछ दिनों बाद नारद मुनि कंस के पास आए। उन्होंने कहा – "कंस ! लगता है कि तुम्हें पता नहीं कि वसुदेव-देवकी की सातवीं सन्तान बलराम और आठवीं सन्तान श्रीकृष्ण हैं। वे रोहिणी-नन्दन और यशोदा-नन्दन के रूप में नन्दराजा के व्रजधाम में चले गए हैं। उन्होंने तुम्हारे अनुचरों का वध कर दिया है। जिस कन्या को तुमने देवकी के गर्भ से उत्पन्न समझकर मारा था, वह देवकी की सन्तान नहीं, यशोदा की पुत्री थी।

कंस ने प्रण किया कि अब कृष्ण-बलराम को मारना ही होगा। मंत्रियों के साथ विचार-विमर्श के बाद निश्चय हुआ कि चतुर्दशी तिथि को एक धनुष-यज्ञ होगा। इसके लिये बड़े-बड़े मण्डप और मंच बनेंगे। कृष्ण और बलराम जब उसमें प्रवेश करने जाएँगे, तब एक हाथी (कुबलया-पीड़) आकर दोनों को अपनी सूँड़ से पकड़कर पटक देगा। इसी से दोनों मर जाएँगे। यदि नहीं मरे, तो कोई अन्य व्यवस्था करनी होगी।

अक्रूर यदुवंश के एक सम्माननीय व्यक्ति थे। कंस ने उन्हें आदेश दिया – तुम मेरे हितैषी हो, तुम जानते हो कि बलराम और कृष्ण मेरे परम शत्रु होने पर भी मेरे भानजे हैं। एक सुन्दर कीमती रथ लेकर तुम तत्काल नन्दराजा के घर जाओ। उन दोनों को यह उत्सव (धनुर्यज्ञ) दिखाने के लिए ले आओ। नन्दराजा को भी मेरा सादर निमंत्रण दे देना।

अगले ही दिन अक्रूर एक सुन्दर रथ लेकर कृष्ण-बलराम को लाने हेतु व्रजधाम गये। नन्दराजा ने उनका बड़ा आदर-सत्कार किया। बलराम और श्रीकृष्ण ने उनके पाँव धो दिए। खाने-पीने की उत्तम व्यवस्था हुई। तदुपरान्त अक्रूर ने अपने आगमन का प्रयोजन बताया। उन्होंने कंस राजा का आमंत्रण दिया और साथ ही कंस के बुरे अभिप्राय के बारे में बताया कि वह इसी मौके पर कृष्ण-बलराम की हत्या करना चाहता है।

यह बात सुनकर कृष्ण-बलराम थोड़ा हँसे और तय किया कि वे इस आमंत्रण को स्वीकार करेंगे तथा मथुरा जाएँगे।

श्रीकृष्ण मथुरा चले जाएँगे – यह कठोर समाचार सुनकर गोपियाँ बहुत दु:खी हुईं। वे सब कहने लगीं – हे विधाता ! तुम कितने निष्ठुर हो ! प्रिय वस्तु को एक बार समीप लाकर दूसरे ही क्षण छीन लेते हो। तुम तो बालक हो ! बालक

जैसे अपने प्रिय खिलौने को एक बार प्यार करता है और दूसरे ही क्षण उसे तोड़कर चकनाचूर करके फेंक देता है – तुम्हारा भी कार्य वैसा ही है। और अक्रूर ! तुम तो परम क्रूर हो, कौन कहता है कि तुम्हारा नाम अक्रूर है ! तुम्हें बुरा-भला कहने से भी क्या लाभ ! नन्द-नन्दन का प्रेम देखकर तो हम विस्मित हैं। वे केवल नित्य नए प्रेम के अभ्यासी हैं। मथुरा की नारियाँ धन्य हैं। वे नगर में रहती हैं – हम ग्रामवासिनी हैं। नगरवासियों को छोड़कर वे क्या हम लोगों के पास लौटेंगे? गोपियाँ यह सब कहते हुए – "हे गोविन्द, हे माधव, हे दामोदर" – कहकर उच्च स्वर में रोने लगीं।

परन्तु कृष्ण-बलराम को मथुरा जाना होगा। अगले दिन सुबह रथ तैयार हुआ। अक्रूर का रथ व्रजभूमि को छोड़कर मथुरा की ओर चल पड़ा। कृष्ण-बलराम को लेकर अक्रूर कालिन्दी नदी के तट पर आए। नदी तट पर सुन्दर छटा का दर्शन एवं जल का स्पर्श करके बलराम और श्रीकृष्ण रथ पर आकर बैठे। अक्रूर नदी में नहाने गये। कालिन्दी में उतरकर डुबकी लगाकर उन्होंने देखा, तो दोनों भाई जल में खड़े हैं। अक्रूर रथ पर लौट आए। वहाँ फिर बलराम और कृष्ण को देखा। फिर जाकर जल में प्रवेश किया, तो देखा दो नहीं – केवल एक व्यक्ति हैं। अनन्तदेव की गोद में एक परम मनोहर अपूर्व मूर्ति बैठी है। पुलकित और रोमांचित होकर अक्रूर अश्रुपात् करने लगे। कृष्ण-बलराम की माया को कौन समझ सकता है? अक्रूर श्रीकृष्ण की स्तुति करने लगे –

"आप लीला के लिए इस पृथ्वी पर जो-जो रूप धारण करते हैं, लोग उन सभी रूपों की उपासना करते हैं। इससे सारे शोक दूर हो जाते हैं। आपने सबसे पहले मत्स्य होकर प्रलय-समुद्र में विचरण किया था, हयग्रीव अवतार में मधुकैटभ का संहार किया; आपको प्रणाम है। आप ही कुर्म-रूप में मन्दार पर्वत धारण करनेवाले हैं, आपको प्रणाम है। पृथ्वी के उद्धार हेतु आपने वराह रूप धारण किया था; आपने ही अद्भुत नृसिंह रूप धारण करके हिरण्यकशिपु का वध किया था। वामन अवतार में आपने त्रिभुवन पर अधिकार प्राप्त किया था – आपको प्रणाम। भृगुकुल के स्वामी परशुराम होकर आपने क्षत्रियों का दर्प चूर किया था – आपको प्रणाम। रघुश्रेष्ठ रामचन्द्र के रूप में आपने ही रावण का वध किया, आपको प्रणाम। आप सात्वतों के अधिपति वासुदेव हैं, आपको प्रणाम। आप संकर्षण, आप प्रद्युम्न, आप अनिरुद्ध हैं – आपको प्रणाम। म्लेच्छ-नाशक, सत्ययुग के संस्थापक – कल्कि आप ही हैं – आपको प्रणाम है।

कंस-वध

कृष्ण-बलराम ने मथुरा में प्रवेश किया। नगर की शोभा देखकर वे परम आनन्दित हुए। अत्यन्त विशाल भवन ! सोने की किवाड़ें और चाँदी की दीवालें ! फिर बड़े-बड़े खन्दकों से घिरे हुए सुरम्य उपवन हैं। वे जितना ही देखते, उतने ही मुग्ध होते जाते। नगर की नारियाँ कृष्ण-बलराम के विषय में सुनकर एक बार उन्हें देखने के लिए दौड़ी आयीं। वे सब आपस में कहने लगीं कि हम लोगों की अपेक्षा व्रज की नारियाँ कितनी अधिक भाग्यवती हैं। वे सब इस नयन-विमोहन रूप को सदा-सर्वदा देख पाती हैं।

रास्ता जाते-जाते राजा कंस का धोबी दिखाई पड़ा। राजा कंस के वस्त्रों को धोकर वह उन धुले वस्त्रों को लेकर कंस के पास जा रहा था। एक जुलाहे ने आकर उन वस्त्रों से दोनों भाइयों को सज्जित कर दिया। इसके बाद ये लोग ज्योंही मालाकार सुदामा के घर गए, सुदामा उन्हें माला और चन्दन से भूषित करके उनकी स्तुति करने लगा।

इधर एक रूपवती परन्तु कुबड़ी नारी, अपनी टेढ़ी-मेढ़ी देह लिये खड़ी थी। उसके हाथ में अगरू-चन्दन था। वह बोली – "मैं राजा की दासी हूँ, चन्दन आदि लेपन करती हूँ। मेरा नाम कुब्जा (कुबड़ी) है। आओ, आज मैं राजा की ये सारी वस्तुएँ तुम लोगों के अंगों पर लगाऊँगी। कुबड़ी ने ज्योंही कृष्ण-बलराम के शरीर का स्पर्श किया, त्योंही उसका शरीर सीधा हो गया। अब वह विकलांग नहीं रही। कुबड़ी का हृदय कृतज्ञता के भाव से परिपूर्ण हो उठा। अब वह किसी भी प्रकार उन्हें छोड़नेवाली न थी। एक बार उसके घर पर चरण-धूलि देनी ही होगी। कृष्ण-बलराम बोले – "अभी नहीं, एक दिन हम लोग स्वयं तुम्हारे घर आएँगे।"

घटना-प्रवाह अपनी गति से आगे बढ़ता है। कंस का धनुर्यज्ञ शुरू हुआ, कृष्ण-बलराम आमंत्रित सम्बन्धी हैं। उन दोनों ने देखा कि घर में इन्द्रधनुष-जैसे एक सुन्दर धनुष की पूजा हो रही है। सिपाही-सन्तरियों ने उसे घेर रखा है। उन लोगों द्वारा बाधा डालने पर भी श्रीकृष्ण ने उस धनुष को बल-पूर्वक खींचकर उठा लिया तथा जोरों की ध्वनि के साथ उस पर डोरी चढ़ा दी। इसके साथ ही वह धनुष खण्ड-खण्ड हो गया। रक्षकों ने दोनों भाइयों को मार डालने के लिए घेर लिया, पर कृष्ण-बलराम के प्रहार से वे ही मारे गए।

अगले दिन सबेरे मुख्य उत्सव हुआ – कंस ने मल्ल-युद्ध की व्यवस्था की थी। अगले दिन भोर होते ही मथुरा के नर-नारी मल्लयुद्ध देखने एकत्र हो गये। परन्तु कंस मानो उदास था। उसने अनमने भाव से आकर राजमंच पर आसन ग्रहण किया। चाणूर और मुष्टिक – राजा कंस के दो श्रेष्ठ पहलवान थे। उनके साथ अनेक प्रसिद्ध मल्लवीरों ने रंगभूमि में प्रवेश किया। नन्दराज आदि प्रमुख कुलनायकों ने कंस को बहुमूल्य उपहार देने के बाद मंच पर जाकर अपने-अपने लिये निर्दिष्ट आसन ग्रहण किया।

जब बलराम और कृष्ण रंगमंच पर प्रवेश करने को थे,

तभी एक विशाल हाथी (कुवलया-पीड़) दौड़ते हुए दोनों की ओर आया। श्रीकृष्ण ने महावत से कहा – अपने हाथी को सँभालो और हाथी से कहा – द्वार छोड़ दो। दोनों ने उनकी बात नहीं सुनी। श्रीकृष्ण ने दोनों को यमलोक भेजकर बलराम के साथ क्रीड़ास्थल में प्रवेश किया।

मंच पर आसीन दर्शकगण पहले ही कृष्ण-बलराम की शक्ति की कथा सुन चुके हैं। वे सभी कहने लगे – "ये साक्षात् नारायण हैं, कृपा करके वसुदेव के घर में आए हैं।"

तुरही-भेरी बजाकर पहले कंस के प्रधान मल्ल चाणूर ने कृष्ण-बलराम को मल्लयुद्ध करने के लिए पुकारा और कहा – "सुना है कि गोप-बालकगण वनों में गौओं को चराने के साथ-साथ मल्ल-युद्ध का खेल भी करते हैं। तुम लोग भी बड़े वीर हो क्या? राजा ने तुम लोगों की प्रशंसा सुनकर यहाँ मल्लयुद्ध करने के लिए बुलाया है।" श्रीकृष्ण बोले – "हम वनवासी बालक हैं, युद्ध के बारे में हम कुछ भी नहीं जानते; बाहुयुद्ध तो बराबरी के लोगों के बीच होना चाहिये।" चाणूर ने कहा – "तुम लोग बालक या दुर्बल नहीं हो। तुम लोगों ने अभी-अभी राजा के हाथी को मारा है। तुम लोग बड़े बलवान हो। कृष्ण मेरे साथ और बलराम मुष्टिक के साथ मल्लयुद्ध कर अपनी-अपनी वीरता का प्रदर्शन करो।"

घोर मल्लयुद्ध शुरू हुआ। कुछ देर तक प्रहारों के पश्चात् चाणूर ने श्रीकृष्ण के वक्षस्थल पर बहुत जोरों का एक आघात किया। श्रीकृष्ण ने उसी क्षण उसकी दोनों बाहें पकड़ लीं और उसे आकाश में घुमाते हुए धरती पर पटक दिया। चाणूर मृत्यु की गोद में सो गया। बलराम का मुष्टिक के साथ युद्ध हुआ। इस युद्ध में कुछ ही क्षणों के बाद मुष्टिक ने खून की उल्टी करते हुए प्राण त्याग दिये। कंस की पक्ष के अन्य मल्लगण यह देखकर डर से भाग गए।

कृष्ण और बलराम परम आनन्दपूर्वक नृत्य करने लगे। कंस ने वाद्य और तुरही की ध्वनि बन्द कर दी। उसने आदेश दिया – "वसुदेव के इन दोनों पुत्रों को तत्काल मथुरा से बाहर निकाल दो। नन्द को बाँधकर रखो। वसुदेव का वध कर दो। मेरे पिता शत्रुओं के प्रेमी हैं; उनकी हत्या कर दो।"

कंस की बात सुनकर श्रीकृष्ण एक ही छलाँग में कंस के ऊँचे मंच पर चढ़ गए। अपनी मृत्यु को सामने देखकर कंस काँपने लगा। उसका मुकुट नीचे गिर गया। श्रीकृष्ण ने कंस को पकड़कर रंगभूमि की ओर फेंक दिया। इसके बाद उसके ऊपर कूदकर उसे मार डाला।

भोजन, भ्रमण, शयन, श्वास-प्रश्वास करते हुए – हर समय ही कंस चक्रधारी (श्रीकृष्ण) को अपने सम्मुख देखा करता था। इस प्रकार उनका नियमित ध्यान करने के फल-स्वरूप अब उसे वही दुष्प्राप्य रूप प्राप्त हुआ। कंस ने श्रीकृष्ण के सारूप्य गति की प्राप्ति की।

कंस के आठ भाई दौड़ते हुए अपने भाई के हत्यारे को मारने आए। बलराम ने उन सबको मार डाला।

गगन से पुष्प-वृष्टि तथा दुन्दुभि-ध्वनि हुई। श्रीकृष्ण ने कंस की यथाविधि क्रिया सम्पन्न करायी। फिर अपने पिता-माता को बन्धन से मुक्त करके दोनों के चरणों में लोट गए।

उग्रसेन को राज्य-दान

कंस के वध के बाद कृष्ण-बलराम ने जब पिता वसुदेव और माता देवकी को बन्धन से मुक्त किया, तब वसुदेव-देवकी भाव-विह्वल हो उठे। वे जानते थे कि श्रीकृष्ण-बलराम भगवान के अवतार अथवा दोनों साक्षात् भगवान हैं। इससे एक असुविधा हुई, पुत्र भाव से पिता-माता जिस प्रेमानन्द को प्राप्त कर पाते – वह उन्हें दुर्लभ होगा। इसलिए पिता-माता का उन लोगों के प्रति ईश्वर-ज्ञान न रहे, इसके लिए श्रीकृष्ण-बलराम ने माया फैलायी और कहा – "हम दोनों आपके पुत्र हैं। हमारे लिए आप दोनों ने कितने दुःख-कष्ट झेले हैं। हमारा भाग्य ठीक नहीं है, इसीलिये आप लोगों के पास इतने दिनों तक रह नहीं सके। आपके पास रहने से आप लोग जिस आनन्द का उपभोग कर पाते, वह सम्भव नहीं हुआ। जिस शरीर से सारे धन-सम्पद, भोग-सुख प्राप्त होते हैं, वह हमने आप दोनों से ही पाया है; अतः मनुष्य सौ वर्षों में भी पिता-माता का ऋण चुका नहीं सकता। सामर्थ्य रहते हुए भी इतने दिनों तक हम कंस के भय से आपकी सेवा नहीं कर सके। हमें क्षमा कीजिए।"

ये बातें सुनकर वसुदेव और देवकी के आनन्द की सीमा नहीं रही। दोनों श्रीकृष्ण-बलराम को अपनी गोद में खींचकर उनके प्रति स्नेह-दुलार व्यक्त करने लगे। आनन्द से दोनों की वाणी अवरुद्ध हो गयी।

कंस का वध श्रीकृष्ण ने किया है। अब मथुरा के सिंहासन पर कौन बैठे ! सबने सोचा – श्रीकृष्ण ही मथुरा के राजा होंगे। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। श्रीकृष्ण ने अपने नाना उग्रसेन को ही राज-सिंहासन पर अभिषिक्त किया। श्रीकृष्ण के जीवन हम देखते हैं कि वे अनासक्ति के एक महान् उदाहरण हैं। उन्होंने अनेक लोगों को राजा बनाया; परन्तु वे स्वयं कभी राजा नहीं हुए।

❖ (क्रमशः) ❖

निःस्वार्थता की शक्ति

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, जगदलपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

हमें ऐसा लगता है कि स्वार्थपरता ही हमारी क्रियाओं को गति देती है; निःस्वार्थपरता में ऐसा कोई तत्त्व नहीं दिखाई देता जो हमें गतिशील बनाए। पर वास्तव में बात उल्टी है। यह सही है कि सामान्यतः मनुष्य स्वार्थ से ही परिचालित होकर कर्म करता है, तथापि यह भी सही है कि संसार में जो महत् कार्य महान् पुरुषों द्वारा हुए हैं, उन सबके पीछे निःस्वार्थता की ही शक्ति रही है। तभी तो स्वामी विवेकानन्द कहते हैं – ''निःस्वार्थता अधिक लाभदायक होती है, किन्तु लोगों में उसका अभ्यास करने का धैर्य नहीं है।'' उनकी दृष्टि में हम निःस्वार्थ होकर दूसरों की भलाई का जो प्रयत्न करते हैं, वह वास्तव में अपने आपको भूल जाने का ही प्रयास है। यह अपने आपको भूल जाना एक ऐसा बड़ा सबक है, जिसे हमें अपने जीवन में सीखना है। मनुष्य मूर्खतापूर्वक यह सोचता है कि स्वार्थ सिद्धि के द्वारा वह अपने को सुखी बना सकता है, पर वर्षों के पश्चात् अन्त में वह कहीं समझ पाता है कि सच्चा सुख स्वार्थ के नाश में है और उसे अपने आपके अतिरिक्त अन्य कोई भी सुखी नहीं बना सकता।

स्वामीजी तो स्वार्थ को ही अनैतिकता समझते हैं और स्वार्थहीनता को नैतिकता। उनके मतानुसार मनुष्य का पूरा जीवन देने के लिए ही है। वह भले ही संग्रह करके रखना चाहे, पर प्रकृति उसे देने के लिए विवश कर देती है; इसलिए वे कहते हैं कि जब जीवन का सत्य यही है, तब तुम अपनी खुशी से क्यों नहीं दे देते? तुम मुट्ठी बाँधे हाथ से बटोरना चाहते हो, पर प्रकृति तुम्हारी गर्दन दबाती है और तुम्हारे हाथ खुल जाते हैं। तुम्हारी इच्छा हो या न हो, तुम्हें देना ही पड़ता है। जैसे ही तुम कहते हो - 'मैं नहीं दूँगा' एक घूँसा पड़ता है और तुम्हें चोट लगती है। ऐसा कोई नहीं है, जिसे अन्त में सब कुछ त्यागना न पड़े।

स्वामी विवेकानन्द निःस्वार्थता को ही धर्म की कसौटी मानते हैं। उनकी दृष्टि में जो जितना अधिक निःस्वार्थी है, वह उतना ही धार्मिक, आध्यात्मिक और शिव के समीप है। दूसरों के लिए अपने जीवन को खपा देने की प्रेरणा देते हुए, हमें एक नया दृष्टिकोण प्रदान करते हुए वे कहते हैं - देखो, मनुष्य अल्पायु है और संसार की सब वस्तुएँ वृथा तथा क्षणभंगुर हैं; पर वे ही जीवित हैं, जो दूसरों के लिए जीते हैं; शेष सब तो जीवित की अपेक्षा मृत ही अधिक हैं।'' यह हम न भूलें कि विकास ही जीवन और संकोच ही मृत्यु है। इसलिए प्रेम ही जीवन का मूलमंत्र है। प्रेम करनेवाला ही जीता है और स्वार्थी मरता रहता है। प्रेम के अभाव में आज संसार के सब धर्म प्राणहीन एवं परिहास की वस्तु हो गये हैं। संसार को उनकी आवश्यकता है, जिनका जीवन उत्कट प्रेम तथा निःस्वार्थता से पूर्ण है। ऐसा प्रेम प्रत्येक शब्द को वज्रवत शक्ति प्रदान करता है।

स्वामी विवेकानन्द ने मद्रास के अपने भक्तों को अमेरिका से एक पत्र में लिखा था - दुखियों के दुःख का अनभुव करो और उनकी सहायता करने को आगे बढ़ो, भगवान् तुम्हें सफलता देंगे ही। मैंने अपने हृदय में इस भार को और मस्तिष्क में इस विचार को रखकर बारह वर्ष तक भ्रमण किया। मैं तथाकथित बड़े और धनवान् व्यक्तियों के दरवाजों पर गया। वेदनाभरा हृदय लेकर और संसार का आधा भाग पार कर, सहायता प्राप्त करने के लिए मैं इस अमेरिका देश में आया। ईश्वर महान् है। मैं जानता हूँ कि वह मेरी सहायता करेगा। मैं इस भूखण्ड में शीत से या भूख से भले ही मर जाऊँ, पर हे तरुणो, मैं तुम्हारे लिए एक वसीयत छोड़ जाता हूँ; और वह है यह सहानुभूति – गरीबों, अज्ञानियों और दुःखियों की सेवा के लिए प्राणपण से चेष्टा।

स्वामीजी ने निःस्वार्थ बनने के लिए देश की तरुणाई का आह्वान किया था। कहा था - बहुत सारे जन्मों में अपने लिए तो जी ही चुके हो, क्यों नहीं यह एक जन्म दूसरों के लिए जीते। प्रयोग के तौर पर ही सही, यह जन्म दूसरों के लिए तो बिताकर देखो। आज हमारी यह मातृभूमि तुम जैसे कुछ सौ लड़कों का बलिदान चाहती है, जो अपने स्वार्थ को तिलांजलि देकर अपना जीवन उसके चरणों में समर्पित कर दें। ऐसी निःस्वार्थता जीवन को धन्य बना देती है। ❑❑❑

आत्माराम के संस्मरण (२)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से उन्हें संन्यास-दीक्षा मिली थी। उन्होंने बँगला में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। अब तक हम उनके तीन ग्रन्थों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' एवं 'आत्माराम की आत्मकथा' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। १९६५-६६ के दौरान उन्होंने एक बार पुन: अपने जीवन के कुछ संस्मरणों को बँगला भाषा में लिखा था। उनमें से कुछ घटनाएँ प्रकाशित हुई हैं और कुछ नयी – अप्रकाशित हैं। पूर्व-प्रकाशित घटनाएँ भी भिन्न विवरणों के साथ भिन्न रूप में लिखी गयी हैं, अत: पुनरुक्त होने पर भी रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी हैं। अनुवादक तथा सम्पादक हैं – स्वामी विदेहात्मानन्द। – सं.)

वाराणसी : मातृ-दर्शन

पुत्र के प्रति सदा स्नेहवती मातृचरणों में बारम्बार प्रणाम। मृत्यु के बाद भी उन्होंने मेरी उपेक्षा नहीं की – स्नेह प्रदर्शित किया है। मेरा अत्यन्त रुग्ण शरीर – जीर्ण देह, मैं मातृ-वियोग से आकुल था। शोक-निवारण तथा स्वास्थ्य-लाभ – वाराणसी जाने से ये दोनों ही उद्देश्य पूरे हुए थे।

संन्यासी उस समय किशोर वय का था। वाराणसी जाकर उसे फिर बुखार और खाँसी हुई। बताया गया कि ब्रांको-निमोनिया हुई है। पिता के साथ एक ही कमरे में था, क्योंकि डॉक्टर कह गये थे कि अवस्था बड़ी अच्छी नहीं है।

गहरी रात में सभी लोग निद्रामग्न थे। सहसा श्वास-कष्ट होने लगा, ऐसा लगा कि प्राण निकल रहे हैं ! गले में मानो कुछ अटका हुआ था, कुछ बोल नहीं पा रहा था। उसने गले में अंगुली डालकर स्वयं ही उसे खींच निकालने का प्रयास किया, परन्तु किसी भी प्रकार निकाल नहीं सका। हताश होकर सोचने लगा – माँ के बारे में ही सोचने लगा – वे जीवित रहने पर इस अवस्था में जागती रहतीं, सहायता करतीं। सहसा देखा कि गर्भधारिणी माँ सिर के पास बैठी हुई हैं और सिर पर हाथ फेर रही हैं। कोई बात नहीं कर रही हैं, कुछ बोल नहीं रही हैं। इसके बाद उन्होंने मुँह खुलवाकर, मुँह में अंगुली डालकर कफ का एक काफी बड़ा गोला, स्पंज के जैसा गोला खींचकर निकाला और मेरे हाथ में दे दिया। तत्काल आराम महसूस हुआ – कष्ट चला गया – शरीर में मानो प्राण आया।

इसके बाद वे अदृश्य हो गयीं। सुबह यह गोला सबको दिखाऊँगा, यह सोचकर उसे बिस्तर के पास फर्श पर रखकर सो गया। जब नींद खुली, तो शरीर काफी स्वस्थ महसूस हो रहा है – सबको रात की घटना बतायी। सभी सुनकर विस्मित रह गये, परन्तु कफ का वह गोला नहीं मिला।

स्नेहमयी माँ के चरणों में बारम्बार प्रणाम।

जाको राखै साइयाँ

१९१६ ई.। मैमनसिंह-ढाका देखने गया। कुछ दिन मैमनसिंह में बड़े भाई के घर में ठहरा था। वे वहाँ रेलवे पी.डब्ल्यू.डी. के अधिकारी थे। प्रतिदिन शाम को ध्यान करने वहाँ के श्मशान में जाता था। वर्षा का मौसम था – ब्रह्मपुत्र नदी में खूब पानी और प्रबल वेग था। श्मशान से थोड़ी ही दूरी पर नया पुल बना हुआ था। परन्तु तब भी उसका उद्घाटन नहीं हुआ था।

एक दिन खूब गर्मी लग रही थी, इसलिये श्मशान के टूटे हुए घाट पर स्नान करने उतरा था और प्रवाह के मुख में धप से बिल्कुल गहरे पानी में गिर पड़ा। तैरना नहीं के बराबर ही आता था। प्रवाह खींचकर ले जा रही थी। हाथ के पास एक छोटे-से पेड़ की डाल थी। (नदी के पाट के धँस जाने के कारण पेड़ आधा झुक चुका था।) उसी को पकड़ लिया और उसी के सहारे किसी प्रकार पाट के ऊपर चढ़कर आ गया। सहायता करनेवाला उधर कोई भी न था। चढ़कर आने के बाद ही देखा कि नदी ने पेड़ को खींच लिया है। किसने बचाया इस प्रकार? निश्चय ही जगदम्बा ने।

बाघा जतीन और मानवेन्द्र राय

उन दिनों बाघा जतीन का बड़ा नाम था। क्रान्तिकारियों के बीच अरविन्द, वारीन्द्र, उल्लास के बाद शायद बाघा जतीन का नेतृत्व ही खूब जमा हुआ था। सरकार परेशान थी। किसी भी प्रकार उन्हें पकड़ नहीं पा रही थी। उन्होंने और मानवेन्द्र (छद्मनाम) ने पल्टन पुलिस को छकाकर, उन की आँखों में धूल झोंककर रोडा कम्पनी (Roda Co.) का एक बाक्स रिवाल्वर चोरी करके बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की थी।

उनके साथ संन्यासी की भेंट हुई थी हिन्दू हॉस्टल में। दो-एक बार कोलकाता के निवास-स्थान पर भी मानवेन्द्र एवं एक अन्य व्यक्ति का आगमन हुआ था। संन्यासी उस समय छात्र था। एक बार वह संन्यासी को कुछ चमत्कार दिखाने हेतु उसे साथ लेकर प्रेसीडेंसी कॉलेज के विज्ञान की प्रयोगशाला में गया। वह और कुछ नहीं रोडा कम्पनी के कुछ रिवाल्वर वहाँ छिपाकर रखे हुए थे, उन्हीं को दिखाने ले गया था।

एक अन्य समय उसी हिन्दू हॉस्टल के एक कमरे में बाघा जतीन (जतीनदा) के साथ भलीभाँति भेंट हुई थी। उस समय उन्हें चेचक हुआ था और वे बुखार से भी कष्ट भोग रहे

थे। मुझे नहीं मालूम कि हॉस्टल में उन्हें किस प्रकार स्थान मिला था, परन्तु उन्हें जब एक 'कर्मी' (ये भी बाहर के व्यक्ति थे) ने मेरे सामने ही पूछा – "इस समय यदि पुलिस आ जाय, तो क्या करेंगे?"

उन्होंने उत्तर दिया – "मेरी ये मांसपेशियाँ देख रहे हो न ! इसमें गोलियाँ नहीं घुस सकतीं। स्वामीजी ने कहा है – 'Muscles of iron and nerves of steel.' (लोहे की मांसपेशियाँ और इस्पात के स्नायु) और यह देखो" – इतना कहकर उन्होंने अपनी मांसपेशियाँ फुलाईं और बोले – "इतना निश्चित है कि जीवित अवस्था में किसी दिन जनरल पुलिस के हाथों में नहीं पड़ूँगा। यह भरा हुआ रिवाल्वर रखा है, मार कर मरूँगा !" (आखिरकार उनकी मृत्यु, उड़ीसा के सम्भवत: बालासोर में उसी प्रकार गन-फाइट के बाद ही हुई थी।)

छुट्टियों में एक बार पिताजी के साथ चन्दननगर के घर गया हुआ था। मानवेन्द्र तथा ४ अन्य लोग, जिनमें से एक पूर्व-परिचित था, दोपहर में आ पहुँचे। बोले – "तुम्हें ढूँढ़ रहा था। पूछने से पता चला कि यहाँ आये हो। हम लोगों के साथ चुचुड़ा चलो। रात खगेन के घर बितायेंगे। (ये भी हिन्दू हॉस्टल के अन्तेवासी तथा विज्ञान के छात्र थे।)" मैं अनुमति लेकर उन लोगों के साथ गया। पहुँचने तक संध्या हो गयी। हम लोगों की धारणा थी कि उनका घर हुगली पुल के पास है, उसी के अनुसार मकान ढूँढ़ते हुए हम परेशान हो गये। आखिरकार हम भूख से बेचैन हो गये। थोड़ा-सा मुरमुरा आदि खरीदकर खाते हुए दुकानदार से पूछने पर घर का पता बता दिया। खगेन अनुपस्थित थे, घर में केवल उनकी वृद्धा माँ थीं। सब कुछ सुनने के बाद उन्होंने हमारे लिये एक कमरा खोल दिया। फिर झोल, भात और मेरे लिये आलू की एक विशेष प्रकार की सब्जी बनाकर तृप्तिपूर्वक खिलाया। सब कुछ क्या ही स्वादिष्ट हुआ था ! भूख भी खूब लगी थी। अगले दिन सुबह चाय के साथ पूरी-तरकारी खाने के बाद हम लोग रवाना हुए। वे लोग पैदल चलते हुए सीधे भद्रेश्वर गये और मैं बीच में चन्दननगर में ही ठहर गया। अगले दिन समाचार-पत्र में पढ़ा – "भद्रेश्वर में स्टेशन के पास बम का बिस्फोट हुआ। परन्तु किसी को नुकसान नहीं पहुँचा।" मानवेन्द्र विदेश भाग गया, यह सूचना मुझे उसके सहकारी से मिली। इसके बाद विभिन्न कारणों से उन लोगों का दल छिपने को बाध्य हुआ। बाद में उड़ीसा का मामला हुआ, गन-फाइट हुई और अधिकांश की मृत्यु हो गयी। फिर उनमें से किसी के साथ भेंट नहीं हुई।

भय और भ्रान्ति

संन्यासी की तब किशोरावस्था करीब-करीब पार हो रही थी। एक बार वह चन्दननगर के मकान में बगीचे में (५० बीघे का बगीचा था) तालाब के घाट पर रात में बैठा हुआ था। चाँदनी छिटकी हुई थी। बड़ा सुन्दर लग रहा था। बैठा-बैठा वह त्यागमय जीवन के बारे में सोच रहा था।

पक्के घाट के ऊपर दोनों ओर बैठने के लिये चबूतरे बने हुए थे। उसके एक ओर एक बड़े आम का पेड़ और दूसरी ओर एक आम तथा एक जमरुल के काफी बड़े-बड़े पेड़ थे। मैं आम के पेड़ के पास चबूतरे पर बैठा हुआ था। हाथ में बेंत की छड़ी थी। रात के दस-साढ़े दस बजे होंगे। सहसा देखा कि आम के पेड़ के पीछे मानो लाल किनारी की खूब सफेद साड़ी पहने कोई महिला खड़ी है। मन में प्रश्न उठा – "इस समय यहाँ बगीचे में यह कौन महिला आयी हुई है? किस कार्य से आयी है? घर की तो कोई होगी नहीं।" घर का शौचालय घर के पीछे की ओर था। और उसी ओर के घाट से (शौच के लिये) पानी भी ले जाना पड़ता था। – "कौन हो सकती है?" परन्तु मैं जितना भी गौर से देखता, उस साड़ी के आँचल के सिवा अन्य कुछ भी दिखाई नहीं देता। (वृक्ष काफी मोटा था।) इसके बाद यह देखने के लिये कि कौन है, मैं ज्योंही उठकर पेड़ के दूसरी ओर गया, तो देखा वहाँ कोई भी नहीं है। मन में तत्काल कौंध उठा – "तब तो यह प्रेतनी ही होगी !" परन्तु मुझे भूत-प्रेत से भय नहीं लगता था। उनके अस्तित्व में विश्वास था और उनका भयंकर वृत्तान्त घर में देखने को मिला था। उसकी चर्चा अन्यत्र होगी।[१] फिर से आकर चबूतरे पर बैठा, तो देखा कि मानो वह पुन: झाँककर देख रही है और वही लाल किनारी की साड़ी पहने हुए है।

उसके पकड़ने के लिये झट से उठकर पेड़ के पीछे गया, परन्तु वहाँ कोई भी नहीं था। फिर चबूतरे पर बैठकर देख रहा था और सोच रहा था। सहसा देखा – चाँद की किरणें वृक्ष के डाल-पत्तों के भीतर से होकर इस प्रकार आ रही हैं, कि एक आकृति जैसी दिखती है। अन्तिम बार मैं सटासट बेंत मारने के उद्देश्य से तुरन्त उठकर चला गया था, परन्तु प्रेतनी का कहीं नामो-निशान नहीं था।

ऐसी भ्रान्ति होने का एक कारण तो यह हो सकता है कि बचपन से ही बड़े-बूढ़ों के मुख से चुड़ैल-प्रेतनी की कथाएँ सुनी हुई होने से, वे अवचेतन या sub-conscious मन में ग्रथित रहती हैं। फिर यह भी सुना गया है कि किसी ऐसी ही

१. प्रेत या ब्रह्मदैत्य का कार्य मैंने दो बार स्वयं देखा है। (क) एक बार सुबह उठकर सबने देखा कि पूरे घर में – विशाल आंगन में, हर कमरे में, बरामदों में खून के बड़े -बड़े छींटे पड़े हैं, मानो वर्षा हुई हो। परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि किसी के शरीर पर नहीं पड़े, खाट या बिस्तर के ऊपर नहीं पड़े, रसोईघर में नहीं पड़े और ठाकुरघर (मन्दिर) में नहीं पड़े। इसके बाद माँ ने शान्ति-स्वस्तयन – पूजा-पाठ आदि कराया। (ख) दूसरी बार की बात पिछले अंक में 'शिवपूजा और ब्रह्मदैत्य' के प्रसंग में वर्णित हो चुकी है।

रात को और इसी प्रकार के स्थान में उनका आगमन हुआ करता है। इसीलिये उस बात का स्मरण न होने पर भी चाँदनी के झिलमिलाहट से जो आकार बना है, वह प्रेत का है, यह बात मन में आना सम्भव है। यह भीतर से स्वत: ही ऊपर उठ आती है और भ्रान्ति की सृष्टि करती है।

यदि मैं भी डरपोक स्वभाव का होता, तो फिर इस प्रकार जाकर जाँच करने का साहस नहीं होता और मैं भागकर घर में जाकर सोचता कि मैंने सचमुच ही प्रेतनी को देखा है और जीवन भर मन में उसी धारणा की स्मृति दृढ़ रहती। अधिक डरपोक स्वभाव के लोगों को तो बुखार चढ़ जाता है और वे प्रलाप भी करने लगते हैं।

वेदान्त में इस भ्रान्ति की बात है। रात में रास्ता चलते हुए किसी मोड़ पर खड़े एक पेड़ की ठूँठ को देखकर पुलिस सोचती है कि वह चोर है; चोर सोचता है कि वह पुलिस है, अन्य लोग सोचते हैं कि वह डकैत है; प्रेमिका सोचती है कि वह उसका प्रेमी है, परन्तु पेड़ की ठूँठ का वह एक ही रूप रहता है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। और जिसने देखा, उसके देह-मन-बुद्धि पर उसकी प्रतिक्रिया भी समान ही होती है। देखी हुई वस्तु वस्तुत: चाहे जो भी हो, देखनेवाले की बुद्धि में वृत्ति या धारणा के अनुसार भ्रान्ति पैदा करने में समर्थ हो जाती है।

माँ श्री सारदा देवी का प्रसाद

बहुत दिनों पुरानी बात है। पूजनीय बाबूराम महाराज (स्वामी प्रेमानन्द) की अस्वस्थता के कारण उन्हें वायु-परिवर्तन हेतु बैद्यनाथ धाम ले जाया गया था। माँ कोलकाता में आकर 'उद्‌बोधन-भवन' में ठहरी थी। उनके लिये सप्ताह में दो दिन बेलूड़ मठ से अमरुल का शाक ले जाकर पहुँचाने का उत्तरदायित्व मुझे दिया गया था (तब मैं ब्रह्मचारी था)। इसके लिये बेलूड़ मठ से नौका में गंगा पार होकर कुठी घाट तक और उसके बाद पैदल चलकर बागबाजार जाना पड़ता था। मठ में उन दिनों बड़ा अभाव था। (उन दिनों गंगा पार जाने का किराया दो पैसे था अर्थात् आना-जाना एक आने में होता था)। कई बार लौटने के लिये पैसे नहीं रहते। तब पैदल हावड़ा पुल होते हुए मठ लौटना पड़ता। फिर मठ में वापस पहुँच कर डाँट भी खानी पड़ती – "पूजनीय शरत् महाराज (स्वामी सारदानन्द) से दो पैसे माँग क्यों नहीं लिया।" परन्तु मुझे माँगना कभी भी पसन्द नहीं रहा, अत: अधिकांश दिन बोल नहीं पाता। आजीवन यही स्वभाव होने के कारण अनेकों बार मुझे काफी कष्ट भी भोगने पड़े हैं।

अस्तु। परमाराध्या माँ के लिये थोड़ा-सा अमरुल शाक ले जाने का जो सौभाग्य मिला था, उसी में मैं आनन्द का अनुभव करता था। 'उद्‌बोधन' पहुँचते कभी साढ़े दस तो कभी दो तक बज जाता। उस समय तक माँ या तो भोजन करके उठ चुकी होतीं या फिर भोजन के लिये बैठी होतीं। तभी मेरे लिये बुलावा आता। मैं अमरुल-शाक वहीं – उनके सामने रखकर प्रणाम आदि कर लेता। माँ खूब प्रसन्न होतीं। वातरोग के कारण वे उस शाक की चटनी खाती थीं।

मठ से भोजन आदि करके ही जाने के कारण वहाँ मेरे खाने आदि का कोई प्रश्न ही नहीं था। पर माँ हर बार पूछतीं – भोजन हुआ है या नहीं और फल-प्रसाद दिलवातीं। एक दिन मैं मठ में ठीक से खा नहीं सका था। यथासमय उद्बोधन पहुँचा। भूख लगी हुई थी। माँ का भोजन समाप्त होने को था। माँ उस समय एक कटोरी में थोड़ा-सा दूध-भात लेकर खा रही थीं। लगता है दो-एक बार मुख में डाल चुकी थीं।

मेरे मुख की ओर देखते ही उनका हाथ जहाँ था, वहीं ठहर गया – "भूख लगी है बेटा, आओ !" कहकर उन्होंने भात मेरे मुख में डाल दिया। आखिर का दो-तीन ग्रास मुझे ही खिलाया। उधर गोलाप-माँ परेशान होकर कह रही थीं – "उसको अलग से दे देती। यह तुमने क्या किया? आज थोड़ा-सा ही खाने को दिया था, वह भी खाना नहीं हुआ !" मैं तो यह सुनकर लज्जित हो गया, परन्तु मन में असीम आनन्द था कि माँ ने स्वयं अपने हाथ से खिलाया है।

इसके बाद से मैं सावधान हो गया। अब से माँ का भोजन पूरा हो जाने या उनके बैठने के पूर्व ही उनके पास जाता, क्योंकि भय था कि कहीं माँ के आहार में विघ्न न पड़ जाय – कहीं वे स्वयं न खाकर मुझे दे बैठें।

उस दिन की पवित्र स्मृति ताजा बनी हुई है। याद आते ही उनके स्नेह का आस्वादन मिलता है। सचमुच उस एक दिन के आचरण से ही उन्होंने यह दिखाकर मेरे जीवन को धन्य बना दिया था कि वे अपनी सचमुच की माँ हैं।[२]

❖ (क्रमश:) ❖

२. माँ के विषय में जयरामबाटी में हुई एक अन्य घटना जपानन्दजी के मुख से सुनकर स्वामी विश्वाश्रयानन्द ने "बच्चों की माँ सारदादेवी" (पृ. ३७) पुस्तक में लिखा है – "मिट्टी के फर्श में छोटे-मोटे ईंट के टुकड़े तो मिले ही रहते हैं। एक दिन जब जपानन्दजी बरामदे में चल रहे थे, तो ईंट के एक उभरे हुए टुकड़े से लगकर उनके पाँव में चोट आ गयी और खून बहने लगा। उन दिनों उन्होंने माँ की अनुमति लेकर माँ के पास के ही कमरे में कई दिन निवास किया था। बड़ी रात गये, एक बार बाहर निकलने की जरूरत होने पर जब उन्होंने द्वार खोले, तो देखा कि माँ एक हाथ में लालटेन और दूसरे में खन्ती लिये हुए बरामदे के फर्श की मिट्टी खोद-खोदकर ईंट के टुकड़े निकाल रही हैं। जपानन्दजी इस पर विस्मित होकर पूछ उठे – "माँ, रात में जागकर तुम यह क्या कर रही हो? माँ ने उत्तर दिया – "बेटा, ईंट के टुकड़े से आज तुम्हारा पाँव कट गया, हो सकता है कि बाद में किसी दूसरे को भी चोट लग जाय – यही सोचकर नींद नहीं आ रही थी। इसीलिये इन्हें निकाल रही हूँ।"

नारदीय भक्ति-सूत्र (२६)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के बारहवें अध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्द जी ने अपने १० वर्षों के जापान-यात्राओं के दौरान वहाँ के करीब ७५ जापानी भक्तों के लिये अंग्रेजी भाषा में, प्रतिवर्ष एक सप्ताह 'नारद-भक्ति-सूत्र' पर कक्षाएँ ली थीं। उन्हें टेप से लिपिबद्ध और सम्पादित करके अद्वैत आश्रम द्वारा एक सुन्दर ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया गया है। वाराणसी के श्री रामकुमार गौड़ ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति ।।७१।।

अन्वयार्थ – **पितरः** – पूर्वज, **मोदन्ते** – आनन्दित होते हैं, **देवताः** – देवगण, **नृत्यन्ति** – नृत्य करते हैं, **च-इयम्** – और ये, **भूः** – धरती माता, **सनाथा** – रक्षक-युक्त, **भवति** – होती हैं।

अर्थ – (ऐसे भक्त को पाकर) पूर्वजगण आनन्दित होते हैं, देवतागण नृत्य करते हैं और यह धरती माता भी सनाथ हो जाती हैं।

नास्ति तेषु जाति-विद्या-रूप-कुल-धन-क्रियादि-भेदः ।।७२।।

अन्वयार्थ – **तेषु** – उन (भक्तों) में, **जाति** – जाति, **विद्या** – ज्ञान, **रूप** – सौन्दर्य, **कुल** – पारिवारिक पृष्ठभूमि, **धन** – सम्पत्ति, **क्रिया** – उद्यम या पेशा, **आदि** – इत्यादि का, **भेदः** – भेद, **नास्ति** – नहीं होता।

अर्थ – इन (उदात्त स्वभाव के भक्तों) में जाति, विद्या, रूप, वंश, धन-सम्पत्ति, व्यवसाय आदि का भेद नहीं होता।

यतस्तदीयाः ।।७३।।

अन्वयार्थ – **यतः** – क्योंकि, **तदीयाः** – (वे) ईश्वर के अपने होते हैं।

अर्थ – (ऐसे भेद नहीं रहते,) क्योंकि वे ईश्वर के अपने लोग होते हैं।

ऊपर के सूत्रों में भक्त की महानता का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है। भक्तगण जिस स्थान में रहते हैं, वह स्थान पवित्र हो जाता है। वे जो कुछ भी करते हैं, वह पवित्र हो जाता है। वे जिस किसी शास्त्र में श्रद्धा रखते हैं, वह पवित्र हो जाता है। महात्माओं में ऐसी ही पवित्र करने की क्षमता होती है। सन्त-महापुरुष का भाव उन स्थानों, उन शास्त्रों और उन कर्मों में व्याप्त रहता है।

इसी सूत्र से नारद आगे कहते हैं कि पूर्वजगण आनन्दित हो जाते हैं, देवतागण आनन्द में नृत्य करते हैं और धरती परमानन्द से परिपूर्ण हो जाती है। पूर्वजगण अपने कुलों में ऐसे साधु-महात्मा के प्राकट्य के कारण आनन्द मनाते हैं। देवतागण यह सोचकर आनन्द से नृत्य करते हैं कि अब इस धरती से बुराइयों का सर्वनाश हो जायेगा, क्योंकि यहाँ एक ऐसे व्यक्ति ने जन्म ग्रहण कर लिया है। धरती भी इसलिये आनन्दित हो जाती है कि यहाँ एक ऐसे व्यक्ति का आगमन हुआ है, जो इस संसार के लोगों को उबार लेगा।

ऐसे भक्तों में जाति या रहन-सहन, सौन्दर्य या जन्म, धन या पेशे आदि पर आधारित कोई भेदभाव नहीं होता। ऐसा भक्त क्या करता है, किस वंश में जन्म लेता है – आदि बातों का कोई महत्त्व नहीं होता। उसका रूप-रंग कैसा है या वह कैसा दिखता है, आदि बातें महत्त्व-हीन होती हैं, क्योंकि अपने इस परम प्रेम की उपलब्धि के द्वारा वह इन बातों से परे चले जाता है। वह बड़ा विद्वान् है या निरक्षर है – यह भी महत्त्वपूर्ण नहीं रहता। चाहे वह उच्च कुल में जन्मा हो या निम्न वंश में पैदा हुआ हो, यह भी महत्त्वहीन हो जाता है। वह धनी है या निर्धन, इसका भी कोई महत्त्व नहीं रह जाता। इन भेद-भावों से मुक्त, वह जो कुछ भी करता है, उससे उसका ईश्वर-प्रेम ही प्रबलतर होता है। अर्थात् ईश्वर के लिये ऐसा महान् अनुराग रखनेवाले भगवद्भक्त के लिये ये बातें कोई मायने नहीं रखतीं। ऐसे भेदभाव साधु-महात्माओं के बीच कोई भेद नहीं पैदा करते, क्योंकि वे ईश्वर के भक्त होते हैं। वे ईश्वर के अपने जन – ईश्वर के अन्तरंग स्वजन होते हैं। उनमें ईश्वरीय सत्ता ही व्याप्त रहती है। अतः इसका कोई महत्त्व नहीं होता कि उनका रूप-रंग कैसा होता है या वे किस वंश में उत्पन्न हुए हैं या वे किस परिवार में जन्म लेते हैं। ये सभी चीजें महत्त्वहीन हैं, क्योंकि अन्ततः वे सभी ईश्वर की सत्ता से पूर्णतः ओतप्रोत रहते हैं और सर्वत्र ईश्वरीय सत्ता की ही उपस्थिति का बोध करते रहते हैं।

वादो नावलम्ब्यः ।।७४।।

अन्वयार्थ – **वादः** – वाद-विवाद या तर्क-वितर्क, **न** – नहीं, **अवलम्ब्यः** – अवलम्बन करना चाहिये।

अर्थ – तर्क-वितर्क नहीं करना चाहिये।

बाहुल्यावकाशत्वाद् अनियतत्वाच्च ।।७५।।

अन्वयार्थ – **बाहुल्य-आवकाशत्वाद्** – अनेक प्रकार के मतों की सम्भावना होने के कारण, **च** – और, **अनियतत्वात्** – मतों के अनिश्चयात्मक होने के कारण।

अर्थ – क्योंकि अनेक प्रकार के मतों की सम्भावना होती है और उनमें कोई भी मत या दृष्टिकोण अन्तिम नहीं होता।

यह एक चेतावनी है। व्यक्ति को वाद-विवाद या तर्क-वितर्क नहीं करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि व्यक्ति के लिये यह उचित नहीं है कि ईश्वर के या अन्य आध्यात्मिक सत्यों के बारे में या भक्तों के तुलनात्मक गुणों के बारे में वह किसी विवाद में पड़े। ऐसी कोई तुलना व्यक्ति को मूलभूत सत्य अर्थात् परम भक्ति से केवल दूर ही ले जाती है। व्यर्थ के तर्क-वितर्क में पड़ने की जगह भक्तिभाव से ओतप्रोत हो जाना चाहिये। हम अपनी क्षमतानुसार ऐसे भक्तिभाव को प्राप्त करें और इन बातों के विवाद में न पड़ें। तर्क-वितर्क में पड़ने से हम ग्रहणशीलता का भाव खो बैठते हैं। हम भूल जाते हैं कि हमें भक्ति के उस प्रभाव को ग्रहण करना है। यदि हम ग्रहणशील हैं, तभी वह प्रभाव हमारा सहायक होगा। भगवद्-भक्तों के साथ घनिष्ठता के लिये ऐसे किसी तरह के विवाद के पूर्ण त्याग की आवश्यकता है।

जब हम किसी बात पर वाद-विवाद या चर्चा करने का प्रयास करते हैं, तो हमारा एक दृष्टिकोण होता है और हम एक-दूसरे के साथ इस भाव से तर्क करते हैं कि हमारा ही दृष्टिकोण सही है। ये प्रयत्न मन को भक्ति की सच्ची भावना से दूर ले जायेंगे। अत: हम ईश्वर के या अन्य आध्यात्मिक सत्यों के बारे में अथवा विभिन्न भक्तों के तुलनात्मक गुणों के बारे में तर्क-वितर्क में न पड़ें। "अमुक भक्त अमुक भक्त से श्रेष्ठ है" – ये सब वाहियात विचार हैं। ऐसे गलत विचारों द्वारा मन उस प्रभाव या प्रेरणा को प्राप्त करने में अक्षम रहता है, जिसे हम ग्रहणशील होकर प्राप्त कर सकते थे।

ये संक्षिप्त उद्गार है, पर अर्थपूर्ण हैं। जब हम इन बातों पर चर्चा करें, तो स्मरण रखना चाहिये कि हम केवल उस भाव को आत्मसात् करने की दृष्टि से ही उनके बारे में चर्चा करें, न कि अपनी विद्वत्ता या विषय पर अपनी पकड़ प्रदर्शित करने के हेतु। सच्चे भगवद्भक्त में ये भाव नहीं होते।

जब किसी सन्त का सान्निध्य मिले, तो हमें किसी एक सन्त के गुणों की किसी अन्य सन्त से तुलना करना छोड़कर यथासम्भव उनसे भाव तथा प्रेरणा प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये। इसका कारण यह है कि इस तरह का मूल्यांकन हमें सदा के लिये आलोचक बना देगा और हमें उस भाव को आत्मसात् करने से रोकेगा। इसीलिये कहा गया है कि ऐसे भगवद्भक्तों के बारे में या ईश्वर के अस्तित्व के विषय में भी विवाद में नहीं पड़ना चाहिये। मान लो मैं किसी नास्तिक व्यक्ति के साथ तर्क-वितर्क के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने की चेष्टा करता हूँ। तो क्या होता है? अनजाने ही मेरा दृष्टिकोण उससे कुछ प्रभावित हो जाता है।

अत: ऐसी चर्चाएँ बड़ी हानिकारक होती हैं। वे चर्चाएँ न केवल अनावश्यक हैं, बल्कि नितान्त हानिप्रद भी हैं, क्योंकि वे हमारे भीतर एक तरह का संशय उत्पन्न करती हैं। हम अनजाने ही संशय के शिकार हो जाते हैं। शुरू में हमें लगता है कि हम तर्कों से अन्य लोगों को बदलने का प्रयत्न करेंगे, पर ऐसा होता नहीं है। होगा यह कि हम स्वयं अपने भीतर संशय उत्पन्न कर लेंगे। किन्तु यहाँ – भक्ति में कोई सन्देह नहीं होना चाहिये। बिना किसी संकोच के, पूरे मन-प्राण से उसमें तन्मय हो जाना होगा।

ये अमूल्य निर्देश हैं। इनका सावधानीपूर्वक ध्यान रखना है। हम अनावश्यक रूप से अन्य लोगों के साथ निष्फल चर्चाओं में लग जाते हैं और परिणाम यह होता है कि हम स्वयं उस संशयवाद के शिकार बन जाते हैं, जिसके शिकार अन्य लोग हैं; अत: हम सदैव ग्रहणशील बनें। विशेष रूप से, साधु-सन्तों के सम्पर्क में रहने पर हमें अपनी सामर्थ्य भर उस भाव और प्रेरणा को आत्मसात् करते हुए अवसर का पूरा लाभ उठा लेना चाहिये, क्योंकि यह एक दुर्लभ सुअवसर होता है और वह बारम्बार नहीं भी मिल सकता है।

ऊपर कही गई बातें साधकों के दृष्टिकोण से बताई गई हैं। मुख्य भक्ति प्राप्त कर चुके भक्त के लिये भी तर्क-वितर्क अनुचित है, क्योंकि तर्क-वितर्क करके भक्त के मन में अपने आदर्श और जीवन-पद्धति के बारे में संशय उत्पन्न हो सकता है। श्रीरामकृष्ण के जीवन में हम देखते हैं कि किसी के द्वारा अपने विश्वास और अनुभूति का विरोधी कोई विचार या मत व्यक्त करने पर वे किस प्रकार दौड़कर माँ जगदम्बा के पास चले जाते थे। भले ही कोई मनोविनोद के लिये ही तर्क-वितर्क को प्रश्रय देता हो, परन्तु श्रीरामकृष्ण ने दृढ़तापूर्वक तर्क करने की प्रवृत्ति का विरोध किया था। उनका कहना था – "वृथा तर्क और विचार करने से वस्तु-लाभ नहीं होता।"* यहाँ तर्क दिया जा सकता है कि चर्चा से कोई विषय सुस्पष्ट होगा या चर्चा के माध्यम से नवीनतर विचार प्रकट हो सकते हैं। परन्तु बात यह है कि हमारे वाद-विवाद के अतिरेक में जाने की सम्भावना रहती है। फिर वह चर्चा हमें सदैव किसी विषय के अन्तिम निष्कर्ष की ओर अग्रसर कराने में समर्थ नहीं होती। कभी-कभी चर्चाएँ अनिश्चित रूप से चलती रहती है और कभी किसी अन्तिम निष्कर्ष तक नहीं पहुँचती। अर्थात् चर्चाएँ प्राय: निष्फल तथा निरर्थक सिद्ध होती हैं। ऐसी चर्चाओं से हर प्रकार से दूर रहना चाहिये।

* श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, प्रथम भाग, सं. १९९९, पृ. ५७१

हममें अपने विरोधी को परास्त करने और उस पर अपनी श्रेष्ठता का भाव प्रदर्शित करने हेतु तर्क-वितर्क करते रहने की प्रवृत्ति होती है। इस कारण चर्चा या वाद-विवाद से दूर रहना चाहिये, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि व्यक्ति को कोई तर्क सुनना ही नहीं चाहिये या अधिकारी व्यक्तियों द्वारा कही बातों को ध्यानपूर्वक नहीं सुनना चाहिये। ऐसा मनोयोग और कही गई बात के स्पष्टीकरण हेतु प्रश्न पूछना हमेशा उपयोगी होता है। परन्तु साथ ही सामान्यतया होता यह है कि वाद-विवाद या चर्चा अनिर्णित ढंग से चलती रहती है और अन्ततः निष्फल रहती है। ऐसी चर्चा मन को केवल उद्विग्न करती है और कभी विश्वास को किसी प्रकार सुदृढ़ बनाने की ओर अग्रसर नहीं होती और न ही यह हमारे अपने सुधार में सहायक होती है। अतः ऐसी चर्चा से दूर ही रहना होगा।

भक्ति-शास्त्राणि मननीयानि तदुद्बोधक-कर्माणि करणीयानि ।।७६।।

अन्वयार्थ – **भक्ति-शास्त्राणि** – भक्तिशास्त्र के ग्रन्थों का, **मननीयानि** – चिन्तन-मनन करना चाहिये, **तद्** – उस (भक्ति) का, **उद्बोधक** – उद्दीपन करनेवाले, **कर्माणि** – कर्मों को, **करणीयानि** – करना चाहिये।

अर्थ – भक्तिशास्त्र के ग्रन्थों का अध्ययन व मनन करना चाहिये; और भक्ति को जाग्रत करनेवाले कर्म करने चाहिये।

वर्तमान सूत्र कहता है कि भक्ति की शिक्षा देनेवाले शास्त्रों की चर्चा और मनन करना चाहिये। जैसा मैंने बताया – शुष्क चर्चा वर्जित है। यहाँ शास्त्रों से अभिप्राय सभी शास्त्रों से नहीं, बल्कि केवल भक्ति की शिक्षा देनेवाले शास्त्रों से है। भक्तिमार्ग के अनुयायियों को विशेष रूप से ज्ञानयोग या ज्ञान-मार्ग की शिक्षा देनेवाले शास्त्रों से दूर रहना चाहिये। अन्यथा भक्त के बहक जाने या भ्रमित होने की सम्भावना होती है। अतः केवल ऐसे शास्त्रों पर ही चर्चा और चिन्तन-मनन करना चाहिये, जिनमें भक्ति की शिक्षायें समाहित हों। ईश्वर के प्रति प्रेम और भक्ति विषय पर चर्चा तथा चिन्तन-मनन करना चाहिये और भक्ति का उद्दीपन करनेवाली साधनाओं का अभ्यास किया जा सकता है। अर्थात् भक्ति उत्पन्न करने वाला कोई भी कर्म करते रहना चाहिये।

इस प्रकार एक स्थान पर चर्चा से मना किया गया है। दूसरे स्थान पर कहा गया कि व्यर्थ चर्चा ही अनावश्यक और वर्जनीय है, परन्तु भक्ति शास्त्रों की शिक्षाओं का स्पष्टीकरण करनेवाली चर्चा वर्जित नहीं है। कर्म के सम्बन्ध में केवल भक्ति की उद्दीपना करनेवाले कर्म ही किये जाने चाहिये।

हम जानते हैं कि श्रीरामकृष्ण भी भक्ति विषयक ग्रन्थों के अध्ययन को प्रोत्साहन देते थे। कभी-कभी वे भागवत या चैतन्य-चरित जैसे ग्रन्थों के अध्ययन की सलाह देते थे।

सुखदुःखेच्छालाभादित्यक्ते काले प्रतीक्षमाणे क्षणार्धमपि व्यर्थं न नेयम् ।।७७।।

अन्वयार्थ – **सुख** – प्रसन्नता, **दुःख** – कष्ट, **इच्छा** – कामना, **लाभ** – लाभ, **आदि** – आदि, **त्यक्ते** – छोड़ देने पर, **काले** – समय के, **प्रतीक्षमाणे** – उपलब्ध होने पर, **क्षणार्धम् अपि** – आधा क्षण भी, **व्यर्थम्** – व्यर्थ, **न** – नहीं, **नेयम्** – बिताना चाहिये।

अर्थ – सुख-दुःख, लाभ-हानि, इच्छा आदि के द्वन्द्वों से मुक्त होकर भक्त का जो बहुत-सा समय बच जाता है, उसका आधा पल भी उसे व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिये।

पहले ही बताया जा चुका है कि भक्त को अन्य सभी चिन्ताओं से मुक्त रहना होगा। उसका मन सुख-दुख, लाभ की इच्छा आदि से मुक्त हो चुका होता है। अतः वह अन्य चिन्ताओं से मुक्त इस मन से क्या करेगा? क्या वह समय बरबाद करेगा? समय मूल्यवान है, अतः अन्य कर्मों से विरत होने से बचे ऐसे समय के आधे पल का भी भक्ति की प्राप्ति के लिये सार्थक एवं हितकर ढंग से उपयोग करना चाहिये और उसे नष्ट तो बिल्कुल भी नहीं करना चाहिये।

सुख-दुःख, लाभ की इच्छा आदि से छुटकारा मिल जाने के कारण जब भक्त को अधिक समय मिलता है, तो उसे आधा पल भी व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिये। तात्पर्य यह कि उसे आलस्य में समय बिताने या अपने समय को बरबाद करने के लिये कर्मों से विरत नहीं रहना है। इस प्रकार संचित समय को भक्ति-भाव प्राप्त करने हेतु लगाना है, इसीलिये आधा पल भी व्यर्थ नहीं गँवाना है। अर्थात् व्यक्ति को सदा सतर्क रहकर देखना है कि समय का हर पल भक्ति की प्राप्ति के लिये सार्थक और हितकर उपयोग में लाया जा रहा है।

किसी भी साधक के आध्यात्मिक जीवन में ध्यान दी जाने वाली यह एक महत्त्वपूर्ण बात है। वस्तुतः महत्त्वाकांक्षाओं तथा अन्य लोगों की संगति से छुटकारा पाकर साधक को साधारण लोगों की अपेक्षा अधिक समय मिलता है। किन्तु कभी-कभी ऐसा होता है कि इस संचित समय का सार्थक और हितकर उपयोग नहीं हो पाता। इस समय को वह सावधानीपूर्वक अपनी साधना या भक्ति को उन्नत करने में नियोजित नहीं कर पाता। यहाँ यह महत्त्वपूर्ण चेतावनी दी गयी है। हमें यह देखना होगा कि कहीं हम आध्यात्मिकता के नाम पर आलस्य में न लिप्त हो जायँ, इसे सावधानीपूर्वक याद रखना है। इसीलिये कहा गया कि आधा पल भी व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिये। तात्पर्य यह कि हमें सर्वदा सजग रहकर देखना है कि अन्य चिन्ताओं से मुक्त हमारे जीवन का हर पल ईश्वर-अनुराग की गम्भीर साधना में लगा हुआ है।

❖ (क्रमशः) ❖

ईशावास्योपनिषद् (२४)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने वर्षों पूर्व रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सत्संग-भवन में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने ने किया तथा वक्ता की पूर्ण सहमति से इसका सम्पादन एवं संयोजन स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है।)

यही प्रकाश ज्ञान का भी अखण्ड प्रकाश है, जिसकी आभा से संसार की सभी वस्तुयें, जिनका हमें ज्ञान होता है प्रकाशित होती हैं। इस मन्त्र में भी सूर्य के संकेत से परमात्मा को पूषन् और अकेले चलने वाला कहा गया है।

अकेले गमन करने वाला का तात्पर्य है – परमात्मा को किसी भी काल में, किसी भी देश में अपनी गतिविधियाँ सम्पन्न करने के लिये किसी दूसरे की सहायता, अन्य शक्ति या व्यक्ति के सहायता की आवश्यकता नहीं होती। वह सर्वसमर्थ है, अतएव सब कुछ अकेले ही करता है, इसीलिये वह एकर्षे या अकेले चलनेवाला कहा गया है।

इस मन्त्र में सूर्य के संकेत से परमात्मा को यम कहा गया है। यम शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं सांकेतिक है। हम सभी यह जानते हैं कि मृत्यु के देवता को भी यम कहा जाता है। यम का एक अर्थ नियमन करना भी है। योग शास्त्र में भी यम का अर्थ नियम या संयम है।

यमराज या मृत्यु के देवता, मृत्यु के अलंघनीय एवं शाश्वत नियम के द्वारा संसार के सभी प्राणियों का नियमन करते हैं। प्राणियों की देह जब रोग, दुर्घटना, वार्धक्य आदि के कारण अपटु और अशक्य हो जाती है, तब मृत्यु ही अपनी क्रीड़ा से उस देह को समाप्त कर प्राणी के दु:खों का नियमन कर देती है। प्राणी को दु:खों से छुटकारा दे देती है। थोड़ी देर के लिये यह कल्पना करके देखें कि यदि किसी कुटुम्ब में चार-पाँच सौ वर्षों तक किसी की मृत्यु न हो, किन्तु कुटुम्ब में वृद्ध और रोगी व्यक्ति हो, किन्तु जिनकी मृत्यु नहीं होगी।

कल्पना करके देखें, यह कितनी बड़ी विडम्बना होगी। कितना बड़ा कष्ट होगा। उस परिवार के लोगों को कितना अधिक दुख भोगना पड़ेगा। मृत्यु हमें सभी दुखों से छुटकारा दे देती है।

इस मन्त्र में परमात्मा के लिये यम शब्द का उपयोग कर ऋषि हमें बताते हैं कि वह परमात्मा सर्वशक्तिमान है यहाँ तक कि वह मृत्यु के देवता यम का भी नियमन करता है। कठोपनिषद में ऋषि कहते हैं कि इस परमात्मा के भय से ही अग्नि तपती है, सूर्य तपता है, इसके ही भय से इन्द्र वायु आदि अपना कार्य करते हैं। मृत्यु देवता भी उस परमात्मा के भय से ही अपने कार्य में लगे रहते हैं।

भयादग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः।
कठ. २/३/३

ईश्वर की इस परम महत्ता का वर्णन कर ऋषि हमें यह बताते हैं कि अपने जीवन की सभी समस्याओं के समाधान के लिये हमें ईश्वर की शरण में ही जाना चाहिये तथा उनसे ही प्रार्थना करनी चाहिये।

परमात्मा प्रजा के समान हमारा पालन करता है। उस प्रजापालक प्रभु से भक्त प्रार्थना करता है – हे प्रभु ! अपनी रश्मियों या तेज को एकत्र कर उसे समेट लीजिये या हटा लीजिये। जिससे कि मैं आपके परम कल्याणकारी दिव्य स्वरूप को देख सकूँ, या देख रहा हूँ, उस सूर्य में जो पुरुष है, वह मैं ही हूँ।

तात्पर्य यह है कि हे परमात्मा! मेरे हृदय में भी तुम्हारी वही शक्ति और स्वरूप प्रकाशित है, जो कि सूर्य में प्रकाशित है तथा जिसे मैं देख रहा हूँ।

भक्त की यह प्रार्थना उसकी सिद्ध अवस्था की ओर संकेत करती है। भगवान की कृपा से भक्त ने भगवान का दर्शन प्राप्त कर लिया है तथा उसका मन अहोभाव और धन्यता से परिपूर्ण हो गया है।

प्रत्येक साधक-साधिका को, जिसे अभी सिद्धि प्राप्त नहीं हुई है, उसे अन्त:करण पूर्वक यह प्रार्थना करनी चाहिये तथा अपने हृदय में सतत् इस भाव का भी पोषण करना चाहिये। क्योंकि उस परमात्मा की कृपा-प्राप्ति और अनुभूति की यही प्रार्थना और उस भाव का पोषण ही सहज उपाय है।

उपनिषद के इस १७वें मन्त्र में भी साधक परमात्मा से मुक्ति के लिये प्रार्थना कर रहा है –

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर ।।१७।।

मन्त्र के भाव से यह प्रतीत होता है कि साधक का अन्तकाल निकट आ गया है, जिसका साधक को पूर्णत: आभास हो गया है। वह मानो अनुभव कर रहा है कि उसे यह शरीर छोड़कर जाना है। अत: वह परमात्मा से अन्तिम प्रार्थना कर रहा है कि पंचभूतों से निर्मित उसका शरीर पुन: पंचभूतों में ही मिल जाय। उसके देह में स्थित प्राणवायु, अनिल अर्थात् समष्टि प्राणवायु में विलीन हो जाय। उसका

शरीर अग्नि में जलकर भस्म हो जाय।

इसके साथ ही यह मरणोन्मुख साधक ओंकार स्वरूप परमात्मा या ब्रह्म का भी स्मरण कर रहा है, तथा अपने मन को सम्बोधित करते हुये कह रहा है कि हे मन! अब तुम इसी जन्म के गतवर्षों में किये हुये (शुभ और सत्य) संकल्पों का स्मरण कर। हे मन। मेरे द्वारा इसी जन्म में किये गये शुभ-कर्मों का स्मरण कर।

यह प्रार्थना साधक की अन्तिम अभिलाषा और आकांक्षा की ओर संकेत करती है। इस प्रार्थना के भावार्थ से ऐसा प्रतीत होता है कि साधक पंचभूतों के बन्धनों से सर्वथा मुक्त होना चाहता है। इसीलिये वह अन्त समय में ईश्वर से ऐसी प्रार्थना कर रहा है। गीता में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि व्यक्ति अन्त समय में जिन भावों या विचारों को लेकर देह त्यागता है उसे अगले जन्म में वैसी ही गति मिलती है –

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः। (८/६)

वैदिक परम्परा की विश्व को महान् देनों में से एक देन यह है कि अन्त समय में व्यक्ति के मन में जो भाव और विचार रहते हैं, उसी प्रकार उसके आगामी जन्म की दिशा निर्धारित होती है।

इसलिये प्रत्येक साधक-साधिका को अपने आगामी जन्म को शुभ और उन्नत बनाने के लिये या मुक्ति प्राप्त करने के लिये, इसी जन्म में, अभी से, अपने मन में शुभ एवं उच्च आध्यात्मिक भावों का पोषण करना चाहिये, जिससे कि अन्त समय में भी उसके मन में यही शुद्ध एवं आध्यात्मिक भाव बने रहें।

साधना की दृष्टि से इस मन्त्र में हमें एक बड़ा महत्त्वपूर्ण संकेत और सूचना प्राप्त होती है। वह यह कि व्यक्ति प्रार्थना के द्वारा मानव-जीवन का परम लक्ष्य प्राप्त कर सकता है। यहाँ प्रार्थना पर थोड़ा विचार कर लेना समीचीन होगा।

प्रार्थना जीव और ईश्वर के बीच, आत्मा और परमात्मा के बीच सम्पर्क एवं सम्वाद का सर्वश्रेष्ठ साधन एवं उपाय है। प्रार्थना साधक के निष्कपट हृदय का इष्ट के चरणों में सम्पूर्ण समर्पण है। प्रार्थना कुछ जमी-बँधी शब्दों की आवृत्ति मात्र नहीं है। प्रार्थना का सम्बन्ध शब्दों की अपेक्षा भाव से अधिक है। इसमें साधक अपने हृदय के भाव को अपनी अक्षमता एवं दुर्बलताओं को इष्ट के सामने निष्कपट होकर अनावृत कर देता है तथा इष्ट से प्रार्थना करता है कि हे प्रभु ! मेरे दोष और दुर्बलताओं को दूर करो। मुझे शक्ति दो ! जिसमें मेरा कल्याण हो, वही कर दो !

संसार के सभी सन्त-महात्मा एक स्वर होकर हमें बताते हैं, हमसे कहते हैं कि सच्चे हृदय से अन्तःकरण पूर्वक की गई प्रार्थना प्रभु अवश्य सुनते हैं।

हम साधारण लोगों के लिये प्रार्थना से बढ़कर और कोई सरल सहज साधना नहीं है। हम जहाँ जिस स्थिति और जिस अवस्था में भी क्यों न हों, उसी बिन्दु से हम अपने जीवन में प्रार्थना की साधना प्रारम्भ कर सकते हैं।

प्रार्थना प्राणों की पुकार है। जब हम दुर्बल और निस्सहाय अवस्था में पड़ जाते हैं तथा उस अवस्था से छुटने या उबरने का कोई उपाय हमें नहीं दिख पड़ता, जब संसार के सभी सहारे छूट जाते हैं और हम दुख और कष्टपूर्ण, भवसागर में डूबने लगते हैं, तब विपत्ति के इन क्षणों में प्रार्थना हमारी रक्षा करती है। अतः हमें सुख-सुविधाओं के क्षणों से ही प्रार्थना की साधना प्रारम्भ कर देनी चाहिये, जिससे कि अन्त समय में भी हम प्रार्थना करते हुये इस संसार से विदाई ले सकें।

ईशावास्य का यह अन्तिम १८वाँ मन्त्र साधक के हृदय की अन्तिम कातर प्रार्थना है –

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् –
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो –
भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ।।१८।।

इस प्रार्थना में यह संकेत प्राप्त होता है कि साधक तीव्र मुमुक्षु है। साधक अग्नि अर्थात् परमात्मा से निवेदन करता है कि हे प्रभु! मुझे सुमार्ग से 'राये' अर्थात् धन या कर्मफल भोग वाले मार्ग से भिन्न, कल्याण-मार्ग में ले चलो। हे प्रभु ! आप हमारे सभी कर्मों को जानते हो। हमारे अशुभ-कर्म के फलों को नष्ट कर दो। मैं आपको बार-बार प्रणाम निवेदित करता हूँ। यह इस मन्त्र का भावार्थ है।

इस अन्तिम प्रार्थना के भाव से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रार्थना करने वाला साधक एक उच्च कोटि का साधक है। उसने जीवन भर कठिन साधना की है तथा विवेक-विचार-सत्संग आदि के द्वारा संसार की व्यर्थता को समझ लिया है। इससे उसके मन में परम वैराग्य का उदय हुआ है। वह आवागमन या जन्म-मरण के चक्र से छूटना चाहता है। वह परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हे प्रभु ! मृत्यु के पश्चात् मुझे 'सुपथ' से ले चलो। सुपथ अर्थात् उत्तरायण मार्ग से ले चलो, जिससे मुझे पुनः इस मर्त्यलोक में जन्म न लेना पड़े, अर्थात् मैं क्रममुक्ति के मार्ग से चलकर परम मुक्ति पा सकूँ।

भगवान आदि शंकराचार्य की भाषा में – हे प्रभु ! तुम मेरे जुहुराणम् अर्थात् कुटिल और वंचनात्मक पापों को दूर कर दो, जिससे मैं विशुद्धचित्त होकर अपने इष्ट का दर्शन कर सकूँ। साधक-साधिका के लिये यह प्रार्थना अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है।

मुमुक्षत्व या जन्म-मरण के बन्धन से छूटने की तीव्र इच्छा के बिना साधक-साधिका के जीवन में आध्यात्मिक

(शेष अगले पृष्ठ पर)

प्रभु का प्यारा – हीरू

रामेश्वर टांटिया

(लेखक १५ वर्ष की अवस्था में जीवन-संघर्ष के लिये जन्मभूमि त्यागकर कोलकाता आये। कोलकाता की एक अंग्रेजी फर्म जे. टॉमस कम्पनी में साधारण हैसियत से काम शुरू किया। बाद में क्रमश: उन्नति करते हुए मुम्बई, असम और कोलकाता में विभिन्न उद्योग स्थापित किये। १९५७ ई. में लोकसभा के सदस्य निर्वाचित हुए और १९६६ ई. तक संसद सदस्य रहे। पाँच बार कांग्रेस पार्टी के कोषाध्यक्ष भी हुए। १९६८-७० ई. में आप कानपुर के मेयर थे। आप सुप्रसिद्ध 'ब्रिटिश इण्डिया कॉरपोरेशन' के प्रबन्ध निदेशक भी थे। आपने १९५०, १९६१, १९६४ ई. में तीन बार विदेश-यात्राएँ की। व्यवसायी तथा उद्योगपति होते हुये भी अत्यन्त सहृदय, साहित्यानुरागी तथा समाजसेवी थे। आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की। प्रस्तुत है 'भूले न भुलाए' पुस्तक के कुछ अंश। – सं.)

उत्तराखण्ड के बदरी-केदार की यात्रा का महत्त्व, हजारों-वर्षों से हमारे देश के लोगों के मन और जुबान पर है। जनश्रुति है कि द्वापर में पाण्डवों ने केदारनाथ की यात्रा की थी और ईसा से डेढ़-सौ वर्ष पूर्व आद्य-शंकराचार्य, केरल से अढाई-हजार मील चलकर बदरीनाथ आये थे। यह भी कहा जाता है कि वर्तमान 'पीठ' उन्हीं का स्थापित किया हुआ है।

अठारहवीं शताब्दी की बात है – पूना के श्रीमन्त पेशवा के दीवान वृद्धावस्था में राजकाज छोड़कर घर पर ही विश्राम करते थे। उनके मन में बहुत वर्षों से बदरी-केदार-यात्रा की इच्छा थी, पर कोई-न-कोई कारण उपस्थित हो जाता और वे तीर्थ-यात्रा पर निकल नहीं पाते। आखिर, एक बार उन्होंने सब तैयारियाँ कर लीं। कौन-कौन से मुसाहिब, नौकर, रसोइये, सिपाहियों को साथ रखा जाये और कैसी सवारियाँ, यान-वाहन आदि रहें, सबकी तालिका बन गई, यहाँ तक कि रसद के सामान की भी, सावधानी से सूची बना डाली गई।

उनके पड़ोस में हीरू नामक एक दर्जी रहता था। उसके मन में भी बदरी-केदार जाने की इच्छा थी, पर अच्छा साथ नहीं मिल पाया, अत: जा नहीं सका था। उसने भी कई अन्य लोगों की तरह दीवानजी के साथ जाने की स्वीकृति ले ली। उन दिनों रास्ते बीहड़ थे, सड़कें भी अच्छी न थीं। चोर-डाकुओं का डर बना रहता। इसके अलावा साँप-बिच्छू और जंगली हिंस्र पशुओं के आक्रमण का भय तो था ही, रोग भी होते रहते। इन्हीं कारणों से लोग ऐसी यात्राओं में बड़े लोगों के किसी दल में शामिल होने का सुयोग ढूँढ़ते थे।

दीवानजी ने महीनों पहले से ही, अपने बेटों-पोतों को अपने काम की सँभाल देनी शुरू कर दी थी। कारिन्दों और पटवारियों को कहाँ से कितनी अदायगी करनी है और जमीन -जायदाद के पट्टों आदि के बारे में क्या करना है? सारी हिदायतें देकर व्यवस्था की कि पीछे से कोई हानि न पहुँचे।

हीरू ने चलते समय पत्नी और पुत्र को केवल इतना ही कहा कि भगवान का स्मरण करते रहना; यदि उनकी कृपा रही, तो फिर मिलेंगे। निश्चित मुहूर्त पर यात्रीदल ने प्रस्थान किया। शंख बजाये गये, मन्दिरों के घण्टे बजे। विदा लेने के लिये लोग उमड़ पड़े। लगभग एक कोस तक स्त्री-पुरुष और बच्चे, भजन गाते हुये पहुँचाने के लिये साथ चले। बड़ी श्रद्धा से सबने 'पा-लागन' किया।

तेरह-सौ मील की लम्बी यात्रा थी। रोज पन्द्रह-बीस मील चले। रात में किसी निरापद स्थान पर रुक जाते। भजन-

पिछले पृष्ठ का शेषांश

साधना तीव्र एवं दीर्घस्थायी नहीं हो पाती। ईशोपनिषद का यह अन्तिम मन्त्र जो कि एक साधक की व्याकुल प्रार्थना है, हमें प्रेरित करता है कि हम अपने जीवन में भी मुमुक्षा की वृत्ति को तीव्र-से- तीव्रतर करने का संकल्प लें तथा तदनुसार प्रयत्न भी प्रारम्भ कर दें।

तीव्र मुमुक्षा के अभाव में हमारी साधना शिथिल पड़ जाती है और तब हम निम्न नैतिक एवं आध्यात्मिक आदर्शों पर ही अटक जाते हैं तथा हमारे मन में यह भ्रमपूर्ण सन्तोष होने लगता है कि हम आध्यात्मिक जीवन तो बिता ही रहे हैं। यह शिथिल भाव हमें उच्च आध्यात्मिक लक्ष्य आत्मसाक्षात्कार या ईश्वर प्राप्ति की ओर बढ़ने नहीं देता।

साधक अन्त समय में शारीरिक दृष्टि से अक्षम हो गया है। अब उसके द्वारा दूसरी कोई भी साधना सम्भव नहीं है। अब वह केवल मन से ही प्रार्थना कर पा रहा है।

भगवान शंकराचार्य इस मन्त्र की व्याख्या में कहते हैं कि साधक यह प्रार्थना इसलिये कर रहा है कि वह विशुद्ध होकर अपना इष्ट प्राप्त कर ले।

अत: हमें प्रभु से सदैव अपने चरित्र और अन्त:करण को शुद्ध कर देने की प्रार्थना करते रहनी चाहिये। आचार्य और सन्तगण हमसे कहते हैं कि यह प्रार्थना इतनी तीव्र हो जाय कि वह हमारे रग-रग में भिद जाय, श्वास-प्रश्वास के समान यह प्रार्थना निरन्तर हमारे अन्त:करण में चलती रहे, यदि हम ऐसा कर सकें, तो इसी प्रार्थना से हमारा उद्धार हो जायेगा।

(ईशावास्योपनिषद-प्रसंग समाप्त)

कीर्तन होता रहता। इसी प्रकार चलते हुए एक दिन मालवा के किसी गाँव के पास पड़ाव हुआ। जगह सुनसान-सी लगी। पूछताछ करने पर पता चला कि गाँव में हैजे का प्रकोप है। अधिकांश लोग यहाँ से चले गये हैं। कुछ गरीब और हरिजन बच गये हैं। चिकित्सा के अभाव में, उनमें से रोजाना कोई-न-कोई भगवान के प्यारे हो जाते हैं।

रात घनी हो आई, भजन-कीर्तन समाप्त हो गये और यात्री सो गये। हीरू को नींद नहीं आई। उसे एक अजीब-सी बेचैनी सता रही थी। वह चुपचाप उठा और पहरेदारों की नजर बचा कर गाँव की ओर चल पड़ा। पास पहुँचते-पहुँचते हवा के झोकों के साथ सड़ाँध आने लगी। वह तेजी से बढ़ा। एक घर से किसी छोटे बच्चे के रोने की आवाज आ रही थी। भीतर जाकर देखा कि दो-तीन वर्ष का शिशु अपनी माँ का आँचल, खींच-खींचकर रो रहा है। माँ विसूचिकाजनित गन्दगी में लिपटी सिसक रही है। उसके मस्तिष्क में सारी बातें एक क्षण में घूम गई। दौड़कर उसने आँगन में बँधी बकरी को दूहा और बच्चे को दूध पिलाया। फिर उसे एक ओर बैठाकर उस महिला को धो-पोछकर साफ किया। उसे ख्याल आया कि दवाइयों की पोटली तो उसकी पेटी में है; क्यों न उसे ले आये, इसकी जान बच जायेगी। वह फौरन उल्टे पाँव, पड़ाव की ओर भागा। लोग गहरी नींद में थे। "पेटी खोलने पर 'खुटका' होगा, बिस्तर में धोती और कपड़े हैं, शायद जरूरत पड़ जायँ" – सोचते हुये उसने चुपचाप, बिस्तर और पेटी उठाई और गाँव में लौट आया। यहाँ आकर देखा कि बच्चा आराम से सोया है और महिला को भी कुछ राहत है। उपचार के लिये साथ लाई हुई दवा दी। ईश्वर-कृपा से लाभ हुआ। सुबह होने पर वह दूसरे घरों में गया। वहाँ भी हैजे के रोगी कराह रहे थे। वह उन्हीं की सेवा में लग गया। उधर तीर्थ-यात्रियों का पड़ाव उठने लगा। थोड़ी देर तो हीरू की प्रतीक्षा की, फिर आगे के लिये चल पड़े।

करीब एक महीने तक हीरू उस गाँव में रहा। यात्रा के लिये जो पूँजी लेकर चला था, खर्च हो चुकी थी। महामारी के हट जाने पर लोग गाँव में वापस आने लगे। सभी कृतज्ञ थे। उसका गुणगान करते थे, परन्तु हीरू मौन रहता। उसके मन में रह-रहकर यही बात उठती कि तीर्थ-यात्रा छोड़कर शायद उससे कोई अपराध हुआ है। एक दिन वह घर के लिये रवाना हुआ। विदा के समय गाँव के लोगों ने अपने घरों से गुड़-चने-चिउड़े दिये। गाँव की सीमा तक पहुँचाने आये। उन सबकी आँखें गीली थीं। श्रद्धा और स्नेहभरी शुभाकांक्षा के अलावा, वे गरीब उसे दे भी क्या पाते?

कुछ दिनों बाद, थका-हरा हीरू अपने घर वापस पहुँचा। लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ कि यात्रा पूरी न कर, वह बीच में ही लौट आया? तरह-तरह के प्रश्न पूछे गये – "क्यों आये? क्या बीमार हो गये? झगड़ा-तकरार हो गया?" आदि, आदि। वह चुपचाप गर्दन झुकाये रहता। पत्नी से केवल इतना ही कहा कि तीर्थ-यात्रा का पुण्य उसके भाग्य में बदा न था। पर-निन्दा और आलोचना में लोगों को आनन्द आता है। तरह-तरह की बातें उस गरीब के बारे फैलाई गईं, परन्तु हीरू ने कोई सफाई नहीं दी। सिर्फ इतना कह देता – "मेरे-जैसे पापी की पहुँच, प्रभु के दरबार में कहाँ?"

दो महीने बाद दीवनाजी का दल पूना लौट आया। शहर के लोग उनके स्वागत और चरण-रज के लिये आये। हीरू भी दुबका-सा आया; पैर छूकर एक ओर बैठ गया। उन्होंने एक बार उसकी ओर देखा, मगर तत्काल कुछ कहा नहीं। यात्रा निर्विघ्न सम्पन्न हुई, इस उपलक्ष्य में अगले दिन १२ गाँव के लोगों के लिये भगवान के प्रसाद का भोज हुआ। सभी दीवानजी का यशोगान और जय-जयकार कर रहे थे।

दस-बारह दिन बाद उनके यहाँ से हीरू का बुलावा आया। उसे लगा दीवानजी कुछ बुरा-भला कहेंगे। सहमा-सा उनकी कोठी पर पहुँचा और द्वारपाल को खबर दी। दीवानजी खुद ही निकल आये और उसे साथ लेकर अपने निजी कक्ष में गये। एकान्त में उन्होंने हीरू से कहा – "जबसे मैं आया, एक बात पूछने की मन में थी, किन्तु कामकाज की देखभाल और लोगों की भीड़भाड़ में मौका ही नहीं लग पाया। तुम्हें भगवान की सौगन्ध है, झूठ मत बोलना। ऐसा लगता है कि उस दिन तुम हम लोगों को उस गाँव के पड़ाव पर छोड़कर अकेले ही आगे चले गये। मैंने देखा कि तुम भगवान बदरी विशाल का श्रृंगार कर रहे हो और पास में बड़े पुजारीजी आरती कर रहे हैं। कई आवाजें देकर बुलाया भी, पर भीड़ में न जाने तुम कहाँ समा गये? इसके बाद केदारजी की आरती और श्रृंगार में भी देखा कि तुम जगमोहन-कक्ष में हो। वहाँ तो केवल प्रमुख पुजारी ही जा सकते हैं, तुम्हें कैसे जाने दिया? मैंने भगवान की भेंट में सोने के गहने और जरी की पोशाकें दी, फिर भी मुझे चौखट तक ही जाने दिया गया!"

हीरू दीवानजी के पैर पकड़कर रोते हुये बोला – "बापजी! आप यह क्या कह रहे हैं? मैं तो उस रास्ते के गाँव में रोगियों की सेवा के लिये कुछ दिनों तक रुका रहा और फिर वहीं से घर वापस आ गया। मुझसे बड़ा अपराध हो गया कि आपसे बिना पूछे, दल छोड़ दिया था। आप-जैसे महापुरुषों के साथ का सुयोग पाने पर भी भगवान के दर्शन-लाभ से वंचित रह गया।" दीवानजी को असमंजस हुआ। कानों-सुनी बात झूठी हो सकती है, पर आँखों देखी नहीं। उन्हें हीरू की आँखों में अब भी भगवान बदरी विशाल की मूर्ति दिखाई दे रही थी। "तुम सचमुच ही प्रभु के प्यारे हो" – कहते हुये उन्होंने गद्गद भाव से हीरू को गले लगा लिया।

❑❑❑

राजपुताना में अखण्डानन्द

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। तब वे वहाँ के अनेक लोगों – विशेषकर खेतड़ी-नरेश अजीत सिंह के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। तदुपरान्त वे कन्याकुमारी तथा मद्रास होकर पुन: खेतड़ी आये। मुंशी जगमोहन लाल ने उनके साथ मुम्बई जाकर उन्हें अमेरिका के लिये विदा किया। यात्रा के दौरान उन्होंने राजा को कई पत्र लिखे। उनके पूरे जीवन व कार्य में राजपुताना तथा खेतड़ी-नरेश का क्या स्थान रहा – क्रमश: इन सभी विषयों पर सविस्तार चर्चा होगी। – सं.)

जयपुर तथा अजमेर में अखण्डानन्द

हमने देखा कि ७ अप्रैल को राजा तथा अखण्डानन्दजी ने स्वामीजी को अमेरिका में पत्र लिखा। राजा प्राय: प्रति वर्ष ही गर्मियों में आबू पहाड़ पर जाया करते थे। सम्भवत: उस वर्ष भी अप्रैल के मध्य में वे रवाना हुए। अखण्डानन्द लिखते हैं, "उनके वहाँ (आबू) के लिये रवाना होने के पूर्व ही मैं खेतड़ी से चलकर जयपुर पहुँचा। जयपुर में 'राजस्थान-समाचार' के सम्पादक समर्थदान जी के साथ परिचय हुआ और मैं उनके साथ अजमेर गया। वहाँ २०-२५ दिन उनके घर में निवास करने के बाद मैंने उदयपुर की यात्रा की।"[१]

अजमेर से ४ मई, १८९४ को उन्होंने वाराणसी के बाबू प्रमदादास मित्र को एक पत्र में लिखा था – "दो-तीन दिनों के भीतर मेरी यहाँ से उदयपुर जाने की इच्छा है। उसके बाद का कह नहीं सकता – उनकी इच्छा। पत्र आदि लिखने पर निम्नलिखित पते पर भेजेंगे – द्वारा मनीषी समर्थदास जी, सम्पादक तथा प्रोपराइटर 'राजस्थान समाचार' अजमेर, राजपुताना।

"हमारे श्रीमत् स्वामीजी ने इस समय यूरोप और अमेरिका में सचमुच ही एक नया युग आरम्भ किया है, आशा करता हूँ कि आपने इस बात को निश्चय ही समाचार-पत्रों में देखा होगा। थोड़े दिनों पूर्व उनका एक पत्र मैंने खेतड़ी के राजा के पास देखा था। उसमें उन्होंने आगामी शीतकाल में यहाँ (भारत में) आने की बात लिखी है। उनकी दिव्य मूर्ति, असाधारण बुद्धि, उदार मत और सरल स्वभाव पर अमेरिकावासी पूर्णत: मुग्ध हो गये हैं। समस्त भारतवासियों को, चिर कृतज्ञता में बद्ध होकर एक स्वर में उन्हें शत-शत धन्यवाद देना उचित है। वहाँ पर केवल वे ही नहीं, अपितु उनके साथ सम्पूर्ण भारत भी गौरवान्वित हुआ है। अस्तु, इस विषय में बहुत कुछ कहने का है, परन्तु स्थानाभाव के कारण यहाँ संक्षेप में ही उपसंहार करना चाहता हूँ।"[२]

१. स्मृतिकथा (बँगला), स्वामी अखण्डानन्द, तृ.सं. पृ. १११

२. शरणागति ओ सेवा (बँगला ग्रन्थ), प्र. सं., पृ. ८३-८४

उदयपुर (मेवाड़) में सुदीर्घ प्रवास

अपनी इस यात्रा के बारे में स्वामी अखण्डानन्द लिखते हैं – "ट्रेन में उदयपुर के महाराणा के प्रधानमंत्री के भतीजे के साथ परिचय हुआ। वे बँगला भाषा जानते थे, बोले, 'टॉड साहब के 'राजस्थान' ग्रन्थ के आधार पर बँगला में जो नाटक लिखे गये हैं, महाराणा उन्हें सुनने के इच्छुक थे, अत: मैंने बँगला सीख ली और उन नाटकों को पढ़कर और उनका हिन्दी अनुवाद करके राणा को सुनाया करता था। राणा उन्हें सुनते-सुनते उच्च स्वर में हँसते हुए कहते, 'बंगाली बाबुओं ने हमारे बाप-दादाओं को बिल्कुल बंगाली बना डाला है। राणा प्रताप के प्रिय घोड़े 'चेठख' को नाम दे दिया है 'चोइतक'!

"चितौड़ में उतरकर हम दोनों ने वहाँ के शासक का आतिथ्य ग्रहण किया। चितौड़ देखने के बाद हमने उदयपुर की यात्रा की। वहाँ पर मैं रामबाग (गुलाब-बाग) नामक उद्यान में स्थित पाला-गणेशजी के मन्दिर में ठहरा।"[३]

उदयपुर पहुँचने के बाद वहाँ से **२८ मई (१८९४) को** उन्होंने बाबू प्रमदादास को लिखा था – "मुझे यहाँ पहुँचे आज दो दिन हो गये। ... यहाँ वैसा अध्ययन आदि नहीं हो सका, तो भी इधर कई महीनों से पंचदशी पढ़ रहा था। उससे बड़ा आनन्द मिला। और क्या लिखूँ? ... राजपुताने के इस अंचल में अन्य स्थानों की अपेक्षा गर्मी काफी कम है, क्योंकि मेवाड़ पेड़-पौधों, नदी तथा जलाशयों से परिपूर्ण है। यहाँ कुछ दिन रहूँगा, अत: आप अपनी कुशलता का संवाद निम्नलिखित पते पर देकर मुझे आनन्दित करेंगे। इति –

आपका – गंगाधर[४]

(पता –) C/o Ramsingh Borhat, Vatiani Chohta, Mewar (द्वारा रामसिंह बोरहट, वटियानी चोहटा, मेवाड़)

उदयपुर से उन्होंने हिन्दी में एक अन्य पत्र अल्मोड़ा के

३. स्मृतिकथा (बँगला), स्वामी अखण्डानन्द, तृ.सं. पृ. १११-१२

४. शरणागति ओ सेवा (बँगला ग्रन्थ), पृ. ८४

लाला बद्रीशाह को लिखा, जिसमें उन्होंने अपनी यात्रा और चितौड़ एवं उदयपुर का बड़ा ही मनोरम वर्णन किया है –

श्रीश्री रामकृष्णः शरणम् ।।

मेवाड़, उदयपुर

सेठजी श्री लाला बद्री साह जी !

बहुत दिनों से मुझे आपका कोई समाचार नहीं मिला। मैं मलसीसर से खेतड़ी होकर जयपुर आया। वहाँ से श्रीमत् विवेकानन्द जी की व्याख्यान की पुस्तिका की दो प्रतियाँ मैंने आपके नाम भेजी थीं, सो शायद आपको यथासमय मिल गयी होंगी। पत्र द्वारा पता चला है कि मेरे एक गुरुभाई स्वामी सुबोधानन्द जी अल्मोड़ा होकर श्री बद्रीनारायण की यात्रा के लिए निकले हैं। कृपा करके मुझे यह सूचना दीजिएगा कि आजकल वे कहाँ पर हैं? और उनके बारे में सविस्तार लिखियेगा।

आप सपरिवार कैसे हैं? आपके पुत्र कैसे हैं? आपके भाइयों में से किसकी पढ़ाई में कितनी प्रगति हुई है? किसी ने परीक्षा दी है या नहीं? आप आजकल क्या कर रहे हैं? श्री गुरुदेव की सेवा वैसी चल रही है या नहीं। व्यापार में उपार्जन कैसा हो रहा है? अचानक ही मुझे ये सारी बातें जानने की बड़ी अभिलाषा हो रही है। आशा है आप पत्र द्वारा यह सब सूचित करके मेरी अभिलाषा दूर करेंगे।

अब मैं आपको यहाँ का थोड़ा-सा हाल बताकर इस पत्र का उपसंहार करता हूँ – अजमेर से मैं रेलगाड़ी में चितौड़ आया। चित्तौड़ स्टेशन से चित्तौड़गढ़ लगभग तीन-चार मील होगा। यह गहलोत सिसौदियों का पुराना गढ़ तथा राजधानी है। इसी गढ़ में अब्बल अलाउद्दीन ने चढ़ाई की थी। यह एक चार-पाँच मील लम्बा और एक-आध मील चौड़े पर्वत के ऊपर है। ऊपर ऐसा फैला हुआ मैदान है कि जिसे देखकर पर्वत की याद ही नहीं रहती। फिर यहाँ इतने बड़े-बड़े वृक्ष और स्वच्छ निर्मल जल से परिपूर्ण तालाब हैं। यह प्राकृतिक रूप से ही एक अपूर्व गढ़ बना हुआ था, फिर राजपूतों ने इसे और भी दृढ़ किया। इस पहाड़ के तीनों ओर एक चौड़ी नदी बहती है। इसके ऊपर सैकड़ों टूटे-फूटे मकान हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि कभी यह भारत का एक बड़ा ही समृद्ध नगर तथा सुदृढ़ दुर्ग था। अब भी जहाँ-तहाँ एक छोटे-छोटे गाँव बसे हुए हैं।

अब चित्तौड़ रोड से उदयपुर तीस कोस इक्के में आया। रास्ते में चारों ओर ताड़, खजूर और तरह-तरह के वृक्षों का घना जंगल और हरे-भरे छोटे-छोटे पर्वतों के सिवा और कुछ भी नजर नहीं आता था। बाद में ऐसे ही जंगल तथा पर्वतों के भीतर से होकर उदयपुर पहुँचा। यह सम्पूर्ण भारत का एक निहायत खूबसूरत नगर है। वैसे यह नगर अपने आपमें वैसा कुछ खूबसूरत नहीं है, परन्तु यह स्थान बड़ा ही रमणीक है। इसके चारों ओर फैली हरियाली, पर्वत-श्रेणी और बड़े-बड़े सरोवरों के कारण ही इसकी ऐसी खूबसूरती हो रही है। राजपुताना की मरुभूमि का मेवाड़ में चिह्न तक नहीं है। बल्कि मुझे तो यहाँ की जलवायु से बंगाल की याद आ जाती है। यहाँ एक बार खूब वर्षा हो गयी है। दुबारा वर्षा होने की सम्भावना दीख रही है। आपके यहाँ वर्षा का क्या हालचाल है? आप सपरिवार मेरा शुभ आशीर्वाद तथा आन्तरिक प्रेम स्वीकार करेंगे। मेरी तबीयत ठीक है। इति।

आपका, अखण्डानन्द

पत्र इस ठिकाने पर देना –
गुलाब बाग, पाला गणेशजी, मेवाड़, उदयपुर, राजपुताना[५]

उदयपुर में स्वाध्याय

जैसा कि उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है, उदयपुर का परिवेश तथा जलवायु उन्हें बहुत पसन्द आया और वे वहीं पाला गणेशजी के मन्दिर में निवास करने लगे। अपने उदयपुर प्रवास के विषय में अखण्डानन्दजी आगे लिखते हैं – "उस उद्यान में महाराणा का एक विशाल ग्रन्थालय था। उसमें मैंने इतिहास तथा पुरातत्त्व विषयक पुस्तकों का काफी अच्छा संग्रह देखा, परन्तु उन्हें बाहर ले जाने की अनुमति न थी। लाइब्रेरियन के साथ परिचय हो जाने के कारण मुझे पुस्तकें लाने की छूट थी। इतिहास और पुरातत्त्व पढ़ने लगा।"[६]

वहाँ उनके द्वारा पढ़े गये कुछ ग्रन्थों के नाम उनके इस वार्तालाप में मिल जाता है – "उदयपुर में राजा के और नाथद्वारा में शालग्राम व्यासजी के ग्रन्थालय से मैंने कितने ही ग्रन्थ पढ़े – सर अलेक्जेंडर कनिंघम के इतिहास-विषयक ग्रन्थ, थियोडोर पार्कर की पुस्तकें, जो भी मिला सारा बौद्ध साहित्य, फिर मेगस्थनीज, फाह्यान, ह्वेनसांग आदि के बारे में पुस्तकें, सर मोनियर विलियम्स की ग्रन्थावली तथा और भी अनेक ग्रन्थ पढ़े।"[७]

एक दिन प्रधानमंत्री के पूर्वोक्त भतीजे ने अखण्डानन्द के लिए एक बड़ा सीधा (राशन) भेज दिया। मन्दिर के व्यवस्थापक ब्रह्मचारी इस पर बड़े खुश हुए और उनकी सेवा पर विशेष ध्यान देने लगे। यदि कोई स्वत:प्रवृत्त होकर उनकी सेवा के लिए धन देना चाहता, तो वे उसे उस मन्दिर के व्यवस्थापक ब्रह्मचारी को देने के लिए कहते। ब्रह्मचारीजी की विशेष इच्छा थी कि दिन में जब दर्शनार्थी भक्त नर-नारी मन्दिर में आते हैं, उस समय संन्यासी महाराज ध्यान करने बैठें। इससे काफी प्रणामी प्राप्त होगी।

५. विवेक-ज्योति (त्रैमासिक), वर्ष १९९७, अंक ३, पृ. ७७-७८
६. स्मृतिकथा (बँगला), स्वामी अखण्डानन्द, तृ.सं. पृ. १११-१२
७. स्वामी अखण्डानन्दके जेरूप देखियाछि (बँग.), पृ. ११८-१९

परन्तु अखण्डानन्दजी इसके ठीक उल्टा ही करते। वे दिन भर मन्दिर के बरामदे में लेटे-लेटे बड़े मनोयोग के साथ मोटे-मोटे अंग्रेजी ग्रन्थों का अध्ययन करते और रात भर ध्यान में मग्न रहते। अध्ययनरत संन्यासी की सेवा करते-करते ब्रह्मचारी शिकायत के सुर में कहते, "अरे! देखो जी, जिस समय भगत आयेगा, तभी तो ध्यान लगाना चाहिये।"

प्रधानमंत्री के भतीजे की स्वामी अखण्डानन्द के प्रति विशेष श्रद्धा थी। वे उनके लिये सीधा तो भेजते ही, दिन के समय मन्दिर में आकर उनके साथ विविध विषयों पर चर्चा करके विशेष आनन्द पाते। एक दिन बातचीत के दौरान उन्होंने अखण्डानन्दजी से कहा, "आप जनसभा में व्याख्यान दीजिए। परन्तु महाराज, स्वदेशप्रेम और राजनीति पर बोलना नहीं चलेगा, केवल धर्म पर ही बोलियेगा।" महाराज बोले, "ठीक है, तो सूदखोरों के अत्याचार के बारे में बोलूँगा।" इस पर वे बोले, "नहीं, वह भी नहीं चलेगा। मात्र धर्म के सम्बन्ध में ही बोलना होगा।" अखण्डानन्द इससे असहमत होकर बोले, "तुम्हारे आर्डर के अनुसार नहीं बोल सकूँगा।" अत: जनसभा नहीं हो सकी।[८]

नागा संन्यासियों के बीच

उदयपुर-प्रवास के दौरान हुई एक विशेष घटना के विषय में अखण्डानन्दजी लिखते हैं – "प्रारम्भ में माधुकरी (भिक्षाटन) किया करता था, परन्तु तभी वर्षा ऋतु आ गयी। चातुर्मास आरम्भ हो गया। और इसके साथ ही चार-पाँच सौ नागा संन्यासी भी आ पहुँचे।

"कभी नागा संन्यासियों ने युद्ध में उदयपुर, ग्वालियर, इन्दौर तथा जामनगर के राजाओं की सहायता की थी। तभी से इन सभी राज्यों में उनका विशेष सम्मान है। दशनामी नागा संन्यासियों में तीन मुख्य अखाड़े हैं – निरंजनी, निर्वाणी और जूना। इन तीन अखाड़ों के नागा लोग बारी-बारी से एक-एक राज्य में चातुर्मास किया करते थे।

"चातुर्मास के दौरान राणा रोज नागाओं के लिये सीधा भेज देते हैं। बीच-बीच में सेठ लोग भी इन्हें भण्डारा देते हैं। यह चातुर्मास्य दशहरे से शुरू होकर कार्तिकी पूर्णिमा पर समाप्त होता है। इन कुछ महीने नागाओं की पौ-बारह रहती है। खा-पीकर रहने के बाद विदाई के समय ये लोग हजार-हजार रुपये और हाथी, घोड़ा, ऊँट आदि ले जाते हैं।"[९]

इस चातुर्मास्य के दौरान किसी भी परमहंस साधु-संन्यासी के राज्य में आ जाने पर उन्हें सीधा दिया जाता था। राजा के मुख्य पुरोहित घूम-घूमकर साधुओं की एक तालिका बना लिया करते थे। क्रमश: वे पाला-गणेशजी के मन्दिर में भी अखण्डानन्दजी के पास आ पहुँचे। राज-पुरोहित को दूर से ही आते देखकर मन्दिर के ब्रह्मचारी ने अखण्डानन्दजी से कहा, "आप आठ मूर्तियों की बात कहियेगा।" वे बोले, "परन्तु मैं तो अकेला हूँ, इतने लोग कहाँ हैं?" ब्रह्मचारी बोले, "अरे, लोग कहाँ हैं, वह मैं देख लूँगा।" इसी बीच अपने सिपाही के साथ राज-पुरोहित वहाँ आ पहुँचे और उनके प्रति यथायोग्य आदर प्रकट करने के बाद बोले, "आपको कितने मूर्तियों के सीधे की आवश्यकता होगी?"

उत्तर में स्वामी अखण्डानन्द बोले, "आपके महाराणा के सन्तानों में से यदि कोई भूखा न हो और महाराणा स्वयं आकर मुझसे भिक्षा ग्रहण करने का अनुरोध करें, तो फिर मैं भिक्षा ले सकता हूँ।" राजपुरोहित ने विस्मय में आकर पूछा, "महाराणा की सन्तान और भूखे? आप कह क्या रहे हैं?" अखण्डानन्द बोले, "आपके महाराणा के एक ही वैध पुत्र है और वे खा-पीकर मस्त रहते हैं। मैं उनकी बात नहीं कह रहा हूँ। सुना है कि महाराणा की अट्ठारह लाख प्रजा है, यदि वे सभी लोग खा-पीकर तृप्त हों, तो समझूँगा कि राणा के सन्तान भूखे नहीं हैं। क्या आप कह सकते हैं कि महाराणा की प्रजा में से किसी को भी अन्न का कष्ट नहीं है?"

पुरोहित फिर बोले, "तो क्या आप कुछ भी नहीं लेंगे।" महाराज के न कहने पर वे नाराज होकर चले गये। मन्दिर के ब्रह्मचारी ने क्रोध व्यक्त करते हुए कहा, "आप राजद्रोही हैं, ये लोग आपको मार डालेंगे। अठारह लाख प्रजा के दुख से मानो आपकी छाती फटी जा रही है!" संन्यासी मौन रहे।

यथासमय महाराणा को सारी बातें विस्तार से ज्ञात हुईं और उन्होंने अगले दिन ही सबको सूचित कर दिया कि पाला-गणेशजी के मन्दिर में ठहरे उस परमहंस संन्यासी के साथ कोई भी राज-कर्मचारी सम्बन्ध न रखे। उदयपुर हाई स्कूल के प्रधान शिक्षक ने महाराज के पास आकर बताया, "आपने जो बातें कही हैं, वे महाराणा के कानों में पहुँच चुकी हैं। वे आप पर कुपित हैं। यहाँ का कोई भी राज-कर्मचारी या बड़ा आदमी आपके पास आने का साहस नहीं करेगा। इसके अलावा आपको हमाम (अन्धकूप) में डालने की भी बात चल रही है, अत: सावधान रहेंगे।"

महाराज को आशंका हुई और वे थोड़े सावधान रहे। जरा-सी भी आवाज होने पर मन्दिर के ब्रह्मचारी कहते, "आ गये, अब बाँध ले जायेंगे। कहाँ आठ-दस लोगों का सीधा लेकर आते और उसकी जगह ऐसा गड़बड़ कर दिया!"

राणा के भय से कोई कुछ देने की हिम्मत नहीं करता था। प्रधानमंत्री के भतीजे का पहले दिया हुआ सीधा और भी दो-चार दिन चला। उन्होंने बताया, "महाराज, भक्ति-प्रेम सब मन में ही रहेगा, अब उसे व्यक्त करना नहीं चलेगा।"

---

८. स्वामी अखण्डानन्द, स्वामी अन्नदानन्द, नागपुर, पृ. ९०-९१

९. स्मृतिकथा (बँगला), स्वामी अखण्डानन्द, तृ.सं. पृ. ११३

राजरोष के कारण अब वहाँ मन्दिर के बाहर नगर में भी कहीं भिक्षा मिलने की सम्भावना न थी। नित्य उपयोग के कपड़े भी जीर्ण-शीर्ण हो गये थे। और आश्रयदाता ब्रह्मचारी का असन्तोष भी चरम सीमा तक पहुँच चुका था।

ऐसी अवस्था में उन्हें **जयपुर राज्य के प्रधान सेनापति हरिसिंह लाड़खानी की याद हो आयी।** एक बार उन्होंने अखण्डानन्दजी से सप्रेम अनुरोध किया था, "यदि आपको कभी सहायता की जरूरत हो, तो कृपा करके अवश्य सूचित करेंगे।" अत: महाराज ने उन्हीं को अपनी वर्तमान अवस्था की सूचना दी। मनिआर्डर से रुपये आ गये। ब्रह्मचारी इस पर बड़े आनन्दित हुए और हस्ताक्षर करके रुपये ले लिये। इन रुपयों से कपड़े खरीदे गये और भोजन की व्यवस्था हुई। उन्हीं रुपयों में से महाराज ने भीलों को महाराणा प्रताप के सेवक मानकर कई बार स्वयं भोजन बनाकर खिलाया था।[१०]

नागा संन्यासियों के अनुभव

स्वामी अखण्डानन्द को नागा संन्यासियों की रीति-नीति तथा परम्पराओं के बारे में जानने की बड़ी जिज्ञासा थी, अत: अपने इन तीन-चार महीनों के उदयपुर प्रवास के दौरान वे बीच-बीच में जाकर उन लोगों के साथ मेल-जोल करते। उन्होंने देखा कि वे लोग इतिहास, भूगोल और शास्त्रों के विषय में भी घोर अज्ञानी हैं।

महाराज लिखते हैं, "नागाओं के महन्त बड़े अच्छे आदमी थे – सामान्य शिक्षा-प्राप्त और खूब निरभिमान थे। अन्य साधारण नागाओं तथा अपने बीच कोई भेद नहीं रखते थे। वे बोले, 'यदि हमारे सम्प्रदाय के परमहंस लोग हमें भलीभाँति शिक्षा देते, तो हम लोगों के द्वारा बहुत-से अच्छे कार्य हो सकते थे।' "[११] अखण्डानन्दजी ने १८ फरवरी १९२४ को स्वामी अतुलानन्द के नाम एक पत्र में इस प्रसंग को कुछ और भी विस्तार से लिखा है – "जब मैं उदयपुर में था, तब वर्षा के कुछ दिन चातुर्मास्य व्रतधारी नागाओं की एक टोली के साथ रहता था। उनके महन्त थोड़े शिक्षित थे, पर बाकी निरक्षर तथा बड़े कट्टर थे। एक दिन बड़े मजे की बात हुई। मैं एक नागा की बगल में बैठकर उनसे बातें कर रहा था। सहसा उन्होंने मेरी ओर मुड़कर प्रश्न किया, 'महाराज, क्या आप बता सकते हैं कि लंका में इस समय कौन राजा है?' मैंने उत्तर दिया, 'ये ही, अंग्रेज लोग।' इस पर वे नागा साधु बोले, 'कदापि नहीं; विभीषण वहाँ के राजा हैं।' उत्तर में मैंने कहा, 'क्यों नहीं हो सकता? यदि अंग्रेज रामचन्द्रजी के राज्य का शासन कर सकते हैं, तो आप ऐसा कैसे सोच सकते हैं कि विभीषण की लंका पर शासन करना उनके लिये सम्भव नहीं है?' इस पर वे बोले, 'नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता। मगर आप परमहंस का वेश धारण करके ऐसी विरुद्धाचारी जैसी बातें कैसे कहते हैं?' यह कहते हुए उन्होंने बड़ी भयंकर मूर्ति धारण कर ली, जिसे देखकर मैंने इस प्रसंग को वहीं बन्द कर देना उचित समझा। थोड़ी देर बाद जब मैं उनके महन्तजी के पास गया, तो वे बोले, 'महाराज, आपने देखा न – ये लोग कैसे अशिक्षित और कट्टर हैं!' मैंने प्रश्न किया, 'आप इन लोगों की थोड़ी-बहुत शिक्षा की व्यवस्था क्यों नहीं करते?' वे खेदपूर्वक कहने लगे, 'इनके गुरु परमहंस संन्यासी हैं, तथापि इन्हें शिक्षा देने की व्यवस्था करना तो दूर की बात, वे इनकी अशिक्षा के कारण इन लोगों से मेलजोल ही नहीं रखते।' इस विषय में मैंने स्वामीजी को अमेरिका में एक लम्बा पत्र लिखा था। उत्तर में उन्होंने नागाओं के उन्नयन के लिये मेरी एक योजना का अनुमोदन करते हुए एक पत्र लिखा था।"[१२]

देशी राज्यों में आम जनता के ऊपर होनेवाले अवर्णनीय अत्याचार की करुण-कथा सुनाते हुए अखण्डानन्द कहते, "राजा तथा महाजन के चंगुल से अपने को बचाने के लिए देशी राज्यों के गरीब लोग मिट्टी के नीचे अनाज को ढँक रखते थे। राजा तथा महाजन के आदमियों की वापसी के बाद वे लोग उस अनाज को खोदकर निकाल लेते।" अपनी इन्हीं सब प्रत्यक्ष जानकारियों की बात उन्होंने अमेरिका में स्वामीजी को लिखी थी। देशी राज्यों के इन पीड़ादायी अनुभवों के विषय में अखण्डानन्द ने राजपुताना से प्रमदादास बाबू को बहुत-सी बातें सूचित करते हुए अन्त में लिखा था, "अंग्रेजों के राज्य में प्रजा को दुख हो, तो वह बोल तो सकती है; परन्तु राजाओं के विषय में कुछ बोलने पर जान की खैर नहीं।"[१३]

❖ **(क्रमशः)** ❖

१०. स्वामी अखण्डानन्द, स्वामी अन्नदानन्द, नागपुर, पृ. ९१-९३; स्मृतिकथा (बँगला), स्वामी अखण्डानन्द, तृ.सं. पृ. ११३-१४

११. स्मृतिकथा (बँगला), स्वामी अखण्डानन्द, तृ.सं. पृ. ११४

१२. शरणागति और सेवा, बँगला ग्रन्थ, के पृ. १२१-२२

१३. स्वामी अखण्डानन्द, स्वामी अन्नदानन्द, नागपुर, पृ. ९१
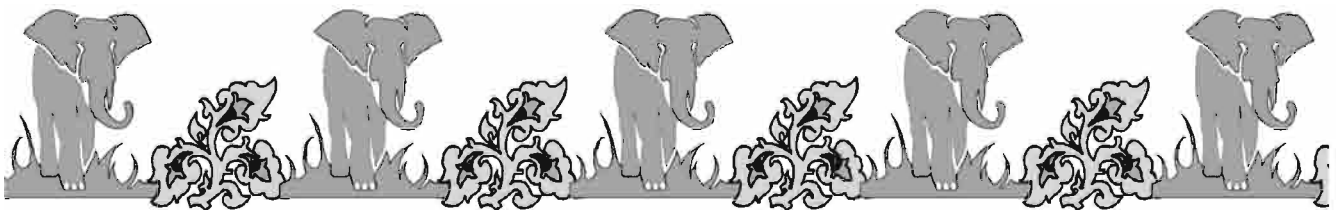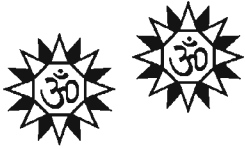
स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण
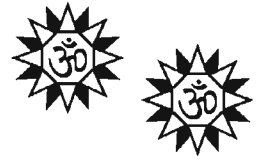
हेनरी जे. वान हागेन

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत संस्मरण अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से गृहीत तथा अनुवादित हुआ है। – सं.)

जब कोई व्यक्ति अचानक ही अन्धकार से तीव्र प्रकाश में कदम रखता है, तो क्षण भर के लिये उसकी आँखें चौंधिया जाती हैं और उचित रूप से काम करना बन्द कर देती हैं। इसी प्रकार जब हमसे अपनी अन्तरात्मा को आलोकित करनेवाले उस महान् आनन्द के विषय में कहने या उसका वर्णन करने का अनुरोध किया जाता है, तो इसके उत्तर में हम मानो शब्दों की तलाश में केवल अँधेरे में ही भटकते रह जाते हैं। पूर्णतम आनन्द को भी व्यक्ति देख और महसूस तो कर सकता है, परन्तु वह उसका वर्णन करने में सक्षम नहीं होता। ऐसी ही भावनाओं के साथ मेरे विचार अपने जीवन की उन महान् स्मृतियों की ओर उन्मुख हो रहे हैं, जिन्हें मैं कभी भूल नहीं सकता। यद्यपि इन घटनाओं को हुए अनेक वर्ष बीत चुके हैं, तथापि ये मेरी स्मृतियों में उसी प्रकार जीवन्त हैं, मानो वे अभी कल की ही बातें हों।

आज शाम हम जिन महान् आचार्य स्वामी विवेकानन्द का जन्मदिन मना रहे हैं, उनके साथ अपनी पहली भेंट के बारे में मुझे अब भी भलीभाँति याद है। अपने मित्रों द्वारा पूर्वाग्रह से भर दिये जाने के बावजूद मैं उनकी एक कक्षा में गया। मैं वहाँ उनका व्याख्यान सुनने नहीं गया था; बल्कि भगवद्-गीता को पढ़ने के बाद जिस भारत देश से मैं प्रेम करने लगा था, मैं पहली बार उस देश के एक निवासी को देखने गया था।

मैं कक्षा में बैठकर स्वामीजी के आगमन की प्रतीक्षा कर रहा था, तभी एक ऐसे व्यक्ति ने अन्दर प्रवेश किया, जिसकी चाल से ऐसी गरिमा और व्यक्तित्व से ऐसी भव्यता व्यक्त हो रही थी, मानो वह सब कुछ का स्वामी हो और किसी चीज का इच्छुक न हो। थोड़ी देर तक उनका अवलोकन करने के बाद मैंने पाया कि वे एक अत्यन्त उत्कृष्ट व्यक्ति थे। अब मैं उनके द्वारा कहे जानेवाले शब्दों को सुनने के लिये उत्सुक हो उठा। कुछ ही मिनट तक उनकी बातें सुनने के बाद मैंने दृढ़तापूर्वक संकल्प किया कि मैं भविष्य के उनके समस्त व्याख्यानों तथा कक्षाओं में उपस्थित होऊँगा।
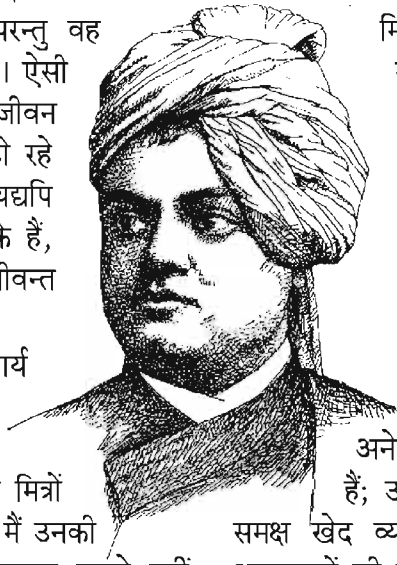
कक्षा में प्रवेश करते समय मेरे मन में जो प्रबल पूर्वाग्रह था, अब मानो उनके विशद ज्ञान तथा चुम्बकीय आकर्षण से वह दूर हो गया। उसके बाद उनके व्याख्यान से जो आनन्द मिला, उसका वर्णन काफी लम्बा हो जायेगा। जैसे भूखे को स्वादिष्ट भोजन और प्यासे को ताजे जल से सन्तुष्टि मिलती है, उसी प्रकार इस अद्भुत व्यक्ति के उपदेशों से सत्य के लिये मेरी पिपासा सन्तुष्ट हो गयी। उसके बाद से आज तक मुझे ऐसा कुछ भी नहीं मिला, जो मनुष्य के मन में उठनेवाले विभिन्न महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का स्वामी विवेकानन्द द्वारा इतनी योग्यता के साथ प्रतिपादित वेदान्त-दर्शन से बेहतर तथा स्पष्टतर व्याख्या प्रदान करता हो।

कक्षाओं तथा सभागृहों में कहे गये उनके शब्द तो शिक्षाप्रद थे ही, साथ ही सड़क या सेंट्रल पार्क में टहलते समय कही गयी उनकी बातों से भी वही सन्देश मिलता था। उन दिनों उनके साथ हुईं अनेक छोटी-छोटी रोचक बातें मुझे अब भी याद हैं; उदाहरण के लिये एक बार मैंने स्वामीजी के समक्ष खेद व्यक्त किया कि उनकी उत्कृष्ट शिक्षाओं के अनुयाइयों की संख्या काफी कम है, तो उनका बोधक तथा सटीक उत्तर था – "यदि मैं चाहूँ, तो मेरे व्याख्यानों में और भी हजारों लोग आयेंगे। परन्तु भारी-भरकम भीड़ से कोई लाभ नहीं; केवल सच्चे जिज्ञासु ही इस कार्य को सफलता प्रदान करने में सक्षम हैं। यदि मैं अपने पूरे जीवन में एक व्यक्ति को भी मुक्ति प्राप्त कराने में सहायक हो सका, तो मैं समझूँगा कि मेरा परिश्रम व्यर्थ नहीं गया, बल्कि पूर्णत: सफल रहा है।" उनकी इस टिप्पणी ने मेरे मन में उनका एक शिष्य बनने की इच्छा उत्पन्न कर दी।

ये मधुर आचार्य अपने छात्रों के मन में सर्वदा यह बोध कराते रहते और उन लोगों की भी ऐसी प्रबल धारणा हो जाती कि स्वामीजी के सान्निध्य में रहते समय, उनका पूरा ध्यान तथा सहानुभूति केवल उन्हीं के प्रति है। वे सर्वदा अपने छात्रों की अति साधारण जरूरतों तथा जिज्ञासाओं पर अपना पूरा ध्यान लगाने को इच्छुक रहते थे और उनके इस

परम आनन्दमय दृष्टिकोण के फलस्वरूप वे लोग उनके परम उत्साही तथा विश्वस्त शिष्यों में परिणत हो जाते थे। इसके फल-स्वरूप आचार्य तथा शिष्य के बीच प्रेम के उस स्थायी बन्धन की सृष्टि होती, जो किसी भी आचार्य की सच्ची सफलता के लिये परम आवश्यक है। उनकी सफलता कितनी गौरवमय थी! आज प्राय: हर बुद्धिजीवी व्यक्ति उस साहित्य से थोड़ा-बहुत परिचित है, जो उनके कार्य के फलस्वरूप प्रस्फुटित होनेवाले एक पुष्प के सदृश है। अनेक प्राध्यापकों, पादरियों तथा सामान्य लोगों का जीवन इन साहित्यिक रत्नों से परिचय तथा प्रभाव के फल -स्वरूप उत्कृष्टतर हुआ है।

उनकी शिक्षाएँ आर्य ऋषियों की वह मन:शान्ति लेकर आयीं, जिसकी हमें परम आवश्यकता थी। हाल ही में एक अमेरिकी वैज्ञानिक ने बताया है कि कैसे हमारा फैशनेबल तथा व्यावसायिक जीवन एक निरन्तर स्नायविक तूफान जैसा हो गया है – जो अक्षरश: हमें सवेग मृत्यु की ओर ले जा रहा है, यह हर व्यक्ति के जीवन-मार्ग में वेग ला रहा है, ऊर्जा का क्षय कर रहा है और समयपूर्व ही स्नायविक तथा मानसिक विनाश को आमंत्रण दे रहा है। धन तथा इन्द्रियों के भोग की अदम्य कामना के फलस्वरूप स्नायविक ऊर्जा का काफी क्षय हो रहा है और उसके नवीनीकरण के लिये किसी भी उपाय का आश्रय नहीं लिया जा रहा है। इस दोष की चिकित्सा के लिये वेदान्त-दर्शन द्वारा प्रदर्शित मार्ग से बेहतर दूसरी कौन-सी औषधि की कल्पना की जा सकती? वेदान्त के अनुसार न तो स्नायविक उत्तेजना से ग्रस्त होकर इधर-उधर दौड़ना है और न अकर्मण्यतापूर्वक निष्क्रिय बैठना है, बल्कि सत्त्व में प्रतिष्ठित होकर मन की शान्ति तथा सन्तुलन बनाये रखना है; और यही उस शान्ति को वापस ला सकता है, जिसे पाश्चात्य राष्ट्र काफी काल पूर्व ही खो चुके हैं।

अपनी शिक्षाओं में स्वामीजी ने हमें फटकार लगाते हुए कहा कि हमें अपनी युद्ध-स्पृहा को महानतम विजयों की प्राप्ति, क्रोध में आकर अपने मानव-भाइयों की हत्या और अपने से मतभेद रखने पर उसके प्रति घृणा में न लगाकर, उसकी ऊर्जा को रूपान्तरित करके सुदृढ़ आत्म-संयम के अभ्यास में नियोजित करना चाहिये। उनके इन मौलिक विचारों में निहित निम्नलिखित तत्त्वों से बढ़कर व्यक्ति अन्य किस शिक्षा का प्रचार-प्रसार करेगा –

जो विजय स्वयं पर पाता,
वह विश्वजयी हो जाता,
अतएव हार मत मानो,
निज टेर सुनाओ, भ्राता –
ॐ तत् सत् ॐ, ॐ तत् सत् ॐ

है व्यर्थ तुम्हारा शोधन,
ग्रन्थों में या मन्दिर में,
जो सतत खींचती तुमको,
वह डोर तुम्हारे कर में ।।
अतएव शोक तुम त्यागो,
जीवन का सत्य समझ लो,
रस्सी छोड़ो संन्यासी,
गाओ उन्मुक्त अभय हो –
ॐ तत् सत् ॐ, ॐ तत् सत् ॐ

यद्यपि वे अपना कार्य समाप्त करके हमसे दूर – चिर शान्ति-राज्य में जा चुके हैं, तथापि वे अब भी हमारी स्मृतियों तथा अपने कार्य में जीवित हैं; और इसके साथ ही वे हमारे लिये लाये हुए अपने सन्देश में भी जीवित हैं। उन्होंने एक महान्, भले तथा सच्चे आचार्य के रूप में अपने कर्तव्य को पूरा किया और हमें ऐसे साधन प्रदान किये, जिससे कि हम सत्य को जान सकें। परन्तु यह उसका एक ही हिस्सा है, इसका दूसरा हिस्सा भी है, जिसके बिना बाकी सब व्यर्थ है और वह है हमारा यह कर्तव्य – सत्य को हम जीवन में उतारें और ज्ञान में वृद्धि के कारण हमारा यह अतिरिक्त कर्तव्य हो जाता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये – सत्य के अनुसार बेहतर जीवन बिताने में सहायता तथा सहयोग करने के लिये वेदान्त-समितियों की स्थापना हुई है, कक्षाओं तथा व्याख्यानों का आयोजन होता है और उनके संन्यासी गुरुभाई तथा शिष्य हमारे देश में पधारे हुए हैं। हम चाहे जितने भी सशक्त राष्ट्र क्यों न हों, वे केवल हमें देने के लिये ही – सत्य तथा ज्ञान देने के लिये आये थे और हमें निश्चित रूप से उसकी आवश्यकता है। हमें वेदान्त का जीवन में रूपायित करके यह सिद्ध करना होगा कि इन महान् आचार्य द्वारा हमारे बीच लाया गया वह अद्भुत सन्देश व्यर्थ नहीं गया।

(प्रबुद्ध भारत, जून १९११ से)

माँ की स्मृतियाँ (२)

लावण्य कुमार चक्रवर्ती

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

माँ के कोलकाता आने पर मुझे उनके आगमन की सूचना मिली। अपनी सहधर्मिणी तथा एक अन्तरंग मित्र (जिन पर कुछ दिनों पूर्व ही माँ की कृपा हुई थी) के बहुत आग्रह-अनुरोध के बावजूद मैं अडिग ही रहा। दिन बीते। माह बीता। प्राणों में दावानल जल रहा था, तो भी मैं अपने संकल्प पर अटल रहा।

१९१३ ई.। पंचमी की रात बीतने के बाद भोर होने को था। जगा था, पर आँखों में नींद की स्वाभाविक तन्द्रा बनी हुई थी। कौवे बोल रहे थे – उसे भी सुन रहा था। अपने अभ्यास के अनुसार तकिये पर सिर रखे ईश्वर का स्मरण करते हुए तन्द्राच्छन्न हो गया। तभी किसी गुरु-गम्भीर कण्ठ से निकली ध्वनि कानों में प्रविष्ट हुई – "लावण्य ! लावण्य ! लावण्य !" चौंककर उठकर देखा – मेरे सिरहाने के पास बन्द दरवाजे की ओर पीठ किये ठाकुर मेरी तरफ देखते हुए खड़े हैं। सहास्य मुखमण्डल, वराभय-दान की मुद्रा में दोनों हाथ, वही समाधि में दण्डायमान मूर्ति ! प्रणाम करने या कुछ कहने का समय नहीं था। मैं आनन्द तथा विस्मय से स्तब्ध हो गया था। बगल के कमरे में जानेवाले दरवाजे की अंगुली से संकेत करके वे बोले – "देख"। देखा – जमीन से दो हाथ ऊँचाई पर शून्य में एक नाम लिखा हुआ था। अग्नि से लिखा हुआ दमक रहा था। ठाकुर के चेहरे की ओर देखते ही वे बोले – "यही नाम जप करता चल। समय होने पर बीज मिलेगा। जानता है न – जो नाम है, वही वे (इष्ट) हैं – नाम और नामी अभेद हैं।"

इतनी देर बाद मैंने भावविभोर हृदय से ठाकुर को प्रणाम किया। प्रणाम करके सिर उठाया, तो ठाकुर नहीं दिखे। वे अन्तर्धान हो चुके थे। अग्निवर्ण नाम मिला था ! बहुत दिन बाद देवी-स्तोत्र में एक जगह पढ़ा – **ताम् अग्निवर्णाम्**।

ठीक तभी मेरे एक चचेरे भाई ने द्वार खटखटा कर कहा – "भैया, मैं अमुक जगह जा रहा हूँ।" मेरी तन्द्रा टूटी। स्वप्न समाप्त हुआ ! आनन्द के अतिरेक से मैं रो पड़ा। उसके बाद उठकर दरवाजा खोलकर देखा, नवोदित सूर्य के आलोक से चारों दिशाएँ उद्भासित हो रही हैं। मेरी चारपाई की दाहिनी ओर मेज पर देवी का एक फ्रेम किया हुआ चित्र रखा था। जब मैं रोज की तरह उन्हें प्रणाम करने गया, तो चौंक पड़ा। चित्र इतना जाज्वल्यमान था, मानो जीवन्त हो ! मामला कुछ कुछ मैं समझ गया। मेरे आनन्दपूर्ण नेत्र अपने आप भर आये। उसी दिन शाम को एक भक्त सहकर्मी आये, तो चित्र की ओर देखते ही बोले – "कितना ज्वलन्त है ! ऐसा पहले तो कभी नहीं देखा। इसे आपने कैसे इतना उज्ज्वल किया है !" मैं केवल हँस दिया, बोला कुछ नहीं। चुपचाप मुग्ध भाव से बहुत देर तक उस ओर देखते रहने के बाद उन्होंने प्रणाम किया। यहाँ यह बता देना उचित होगा कि चित्र को सप्ताह में केवल एक या दो बार गीले कपड़े से पोंछा जाता था। पर इधर तीन-चार दिनों से वह भी नहीं हो सका था। यह उज्ज्वलता अन्य लोगों की निगाह में भी आयी थीं, यह देखकर मैं अवाक् रह गया। इससे भी कुछ मेरी समझ में आया। उस समय मेरे मन-प्राण मानो एक नवीन आनन्द-रस से आसिक्त थे, परन्तु इस दिव्य घटना की बात को मैंने किसी के समक्ष प्रकट नहीं किया। केवल अपने पूर्वोक्त अन्तरंग मित्र-भक्त को पत्र लिखकर सूचित किया – "सुबह कुछ दिव्य श्रवण तथा अवलोकन हुआ, भेंट होने पर यथासम्भव तुम्हें बताऊँगा।"

दोपहर को पास के डाकघर में पत्र को डालने जा रहा था। देखा – एक १५-१६ वर्ष का लड़का मेरी ओर आ रहा था। पास आते ही उसने पूछा – "लावण्य बाबू का मकान किधर है?" "मैं ही वह व्यक्ति हूँ" – कहते ही उसने मेरे हाथ में एक पत्र दिया और बोला – "अमुक बाबू (मेरे मित्र) ने आपको भेजा है।" उसने एक बड़ा-सा फ्रेम किया हुआ चित्र भी दिया। चित्र ठाकुर का था। पत्र पढ़ा। लिखा था – "सुबह एक दिव्य दर्शन हुआ और अपूर्व वाणी सुनी, अत: तत्काल अपने छात्र के हाथ तुम्हारे पास फ्रेम किया हुआ चित्र तथा पत्र भेजा। दोपहर तक तुम्हें मिल जायेगा। अगले शनिवार को अवश्य चले आना।" वहाँ से वह स्थान १५ मील दूर था। छात्र को भोजन कराने के बाद अपना लिखा हुआ पत्र उसे देकर भेज दिया।

विस्मय पर विस्मय ! आनन्द पर आनन्द ! आनन्द से नाच उठने की इच्छा हो रही थी।

परन्तु मैं कोलकाता में माँ के पास नहीं जाऊँगा – यह जिद मैंने नहीं छोड़ी। इसी खींचतान में दिन-पर-दिन और माह-पर-माह बीतकर एक वर्ष पूरा हुआ। पत्नी और मित्र निरन्तर आग्रह कर रहे थे – ''माँ के पास जाओ।'' मैं तंग आ गया। पूजा की छुट्टियाँ पास आ गयी थीं, तब भी वे उसी प्रकार आग्रह कर रहे थे और मेरी न जाने की जिद थी। दुर्गापूजा के किंचित् पूर्व 'न ययौ न तस्थौ' की अवस्था में एक तरह से बाध्य होकर उन मित्र तथा कई अन्य भक्त-मित्रों के साथ रवाना हुआ। रवाना हुआ कहना ठीक नहीं, क्योंकि ये लोग मानो एक पागल के पैरों में बेड़ी डालकर ले चले।

१९१४ ई. दुर्गाष्टमी के दिन सुबह का समय था। उन अन्तरंग मित्र के साथ बागबाजार में 'माँ के घर' (उद्बोधन कार्यालय) उपस्थित हुआ। घर में प्रविष्ट होते ही देखा – बाँयीं ओर के कमरे में तथा आसपास कई स्त्री-पुरुष भक्त एकत्र हैं। पता चला माँ ऊपर – ठाकुर-घर में पूजा कर रही हैं। पूजा समाप्त होते ही भक्त लोग एक एक कर माँ का दर्शन और उन्हें प्रणाम करेंगे। कमरे के पूर्व की ओर एक विशालकाय संन्यासी बैठे हुए थे। कमरे में घुसते ही मैं उन्हें प्रणाम करके खड़ा हो गया। पूज्य शरत् महाराज – स्वामी सारदानन्द – मेरे चेहरे की ओर देखकर बोले – ''कहाँ से आना हुआ है? चेहरा तो पहचाना-सा लग रहा है!''

उत्तर में मैं बोला – ''महाराज, कलकत्ता या इस अंचल में तो मैं पहली बार ही आया हूँ; और आप हमारी ओर कभी गये नहीं। समझ नहीं पा रहा हूँ कि आपको क्यों पहचाना-सा लग रहा है।''

कुछ देर मेरे चेहरे की ओर देखने के बाद वे बोले – ''हाँ, ठीक ही पहचाना है, बैठो।'' मैं उनके सामने ही बैठ गया।

इसी बीच माँ के प्रणाम के लिए ऊपर से बुलावा आया। महाराज बहुत-सी बातें कहने लगे। बोले – ''माँ का दर्शन करने आये हो! माँ को क्या दोगे?'' पास में जो पैसे (कच्चे चाँदी के रुपये) थे, उन्होंने उसे गिनकर देखा। एक कागज का टुकड़ा लेकर उस पर हिसाब लिखा। मुझसे खर्च तथा सम्भावित खर्च के बारे में पूछने के बाद एक रुपया मेरे हाथ में देकर वे बोले – ''माँ से कहोगे – पूजा के भोग के लिए कुछ नहीं लाया हूँ माँ, इस रुपये से कुछ मँगा लीजिएगा। यदि स्वीकार कर लेंगी, तो तुम धन्य हो जाओगे। साधारणत: माँ रुपये नहीं लेतीं।'' पर मेरा कुछ दूसरा ही भाव था। मात्र एक ही रुपया? कम-से-कम पाँच रुपये तो देने ही चाहिये! पूज्य शरत् महाराज मेरा भाव समझकर बोले – ''देखो, तुम्हारे घर लौटने तक का मैंने हिसाब कर दिया है।'' उन्होंने रास्ते के अन्य खर्चों के लिए बीस रुपये अलग रख दिये थे। उसी अवधि में उन्होंने मेरे कोलकाता में रहने और लौटने के सारे खर्च का हिसाब कर लिया था। बोले – ''माँ क्या अधिक रुपये देने से ही प्रसन्न होंगी? उनकी प्रसन्नता रुपये में नहीं है।'' महाराज बड़ी अन्तरंगता से मेरे साथ बातें कर रहे थे, मानो कितने पुराने परिचित हों! उधर प्राय: सभी दर्शनार्थी प्रणाम के बाद चले गये थे। मैं अधीर हो उठा। एक भी व्यक्ति बाकी नहीं रहा। तब महाराज ने ब्रह्मचारी से कहा – ''इसे ले जाओ।'' दो-तीन सीढ़ियाँ चढ़ने के बाद वे ब्रह्मचारी से बोले – ''माँ से कहना – ये हमारे अपने जन हैं।''

मैं चौंक उठा – ''ऐसा मेरा सौभाग्य! आनन्द से शरीर रोमांचित हो उठा। भावविभोर हृदय के साथ मैं माँ के समीप उपस्थित हुआ। देखा – मुझे दिखाकर ब्रह्मचारीजी माँ से कुछ कह रहे हैं। शायद पूज्य शरत् महाराज ने जो कहा था, वही। देखा – माँ मेरी ओर प्रसन्न-दृष्टि से देख रही हैं।

मैंने माँ के सुन्दर – स्थलपद्म के समान सुन्दर – चरणों में प्रणाम किया। फिर शरत् महाराज द्वारा बतायी गयी कुछ बातें कहीं। माँ ने दोनों हाथ बढ़ाकर – ''दो, बेटा दो'' – कहकर रुपया ले लिया। मैंने स्वयं को कृतार्थ माना।

प्रणाम करके खड़े होते ही मित्र ने मेरी बात कही और काशी में दर्शन आदि की बात कही। माँ ने कहा – ''मुझे याद है, पर आज शाम को मैं मठ जाऊँगी। तुम लोग भी तो जाओगे। विजया-दशमी के दिन मैं लौट आऊँगी। अगले दिन सुबह तुम गंगा-स्नान करके आना, हो जायेगा।''

माँ ने मेरे मित्र से कहा – ''उस दिन सुबह तुम मित्र को ले आना।'' पहले ही बता चुका हूँ कि मेरे ये मित्र कुछ दिनों पूर्व ही माँ की कृपा पाकर धन्य हो चुके थे।

इसके बाद माँ के दो-एक प्रश्नों का उत्तर देकर उन्हें फिर प्रणाम करने के बाद मैं नीचे उतर आया। माँ ने रुपये को स्वीकार किया है, यह सुनकर शरत् महाराज आनन्दपूर्वक बोले – ''धन्य हो!'' ये दो अक्षरों का छोटा-सा शब्द मुझे अनन्त भाव-व्यंजक प्रतीत हुआ।

पहले माँ का चित्र और वाराणसी में पूर्वोल्लिखित दर्शन के बाद, स्थूल रूप से माँ का यही प्रथम दर्शन था। पहले सुना था कि शरत् महाराज अत्यन्त गम्भीर स्वभाव के तथा अल्पभाषी हैं। बाद में अन्य लोगों के साथ बातचीत एवं व्यवहार में इसकी सत्यता देखी है। पर मेरा कितना सौभाग्य था! मैं सर्वदा ही उनके लिये भिन्न प्रकार का था, मानो उनका अत्यन्त अपना व्यक्ति – एकदम सहज भाव था।

उसी दिन संध्या के समय मैं सियालदह स्टेशन पर ट्रेन से उतरकर फुटपाथ पर चलते हुए पुन: बागबाजार में 'माँ के घर की ओर जा रहा था। रास्ते में मास्टर महाशय – श्री 'म' से भेंट हुई। धुँधली रोशनी में भी मुझे पहचान कर उन्होंने मेरे कन्धे पर हाथ रख दिया और पूछने लगे – ''कब आये?'' फिर दो-एक बातें कहने के बाद उन्होंने बताया – ''माँ के

पास आज अनेक लोग – राधू, मन्मथ, नलिनी, माकू आदि आये हुए हैं। इसलिए रात में वहाँ ठहरने पर जगह की कमी होगी। उनका घर (स्कूल-भवन – मॉर्टन इंस्टीट्यूशन) ५० नं. आर्महर्स्ट स्ट्रीट पर है।[३] उन्होंने मुझे आदेश दिया या अनुरोध किया कि माँ को प्रणाम करके मैं वहीं चला आऊँ।

मैं बागबाजार में उद्‌बोधन कार्यालय पहुँचा। शरत् महाराज से मिलकर माँ को प्रणाम करने के बाद पुन: थोड़ी देर शरत् महाराज के पास बैठा। उस रात मास्टर महाशय का देवदुर्लभ आतिथ्य और सान्निध्य पाकर धन्य हुआ। मेरे हृदय में उस आनन्दमय रात्रि की सुखद स्मृति सदैव बनी रहेगी।

दुर्गापूजा समाप्त हो गयी। माँ बागबाजार लौट आयीं। पूजा के कुछ दिन शरत् महाराज और हम लोग भी मठ में थे। पर शरत् महाराज को अपनी दीक्षा के बारे में कहने का सुयोग नहीं मिला। अन्त में विजया-दशमी के अगले दिन की सुबह (१९१४) मेरे उस पुनर्जन्म का दिन आ ही पहुँचा।

खूब सबेरे मैं अपने मित्र के साथ गंगा-स्नान करने गया। माँ के शिष्य और सेवक स्वामी विश्वेश्वरानन्दजी (कपिल महाराज) भी उपस्थित थे। वे मेरे अल्प पूजा की सामग्री, पतले किनारे की धोती और उसके साथ ही हमारे वस्त्र लेकर गंगा तट पर खड़े रहे। दीक्षा की बात शरत् महाराज से नहीं कही थी, अत: मन में संकोच हो रहा था। स्नान के बाद हम तीनों माँ के पास चले। शरत् महाराज के सामने होकर ही तो ऊपर जाना होगा। मुझे थोड़ा संकोच और भय लगने लगा। मन में बारम्बार यही आ रहा था कि शरत् महाराज क्या सोचेंगे? दोनों संगियों को मैंने अपने मन के संकोच की बात कही और पूछा कि क्या करूँ? कपिल महाराज ने कहा – "बताने की जरूरत होती, तो माँ ही कह देतीं। इतनी चिन्ता की क्या बात है?" लेकिन चिन्ता हो रही थी। मन के कोने में थोड़ा अँधेरा थे। सोचा – "चाँद जिस पर कृपा करता है, उसका अँधेरे से क्या बिगड़ सकता है? तो भी मैं मन्दिर के पास जाकर खड़ा रहा। कपिल महाराज हँसकर

३. पहले का आर्महर्स्ट स्ट्रीट, अब राजा राममोहन राय सरणी कहलाता है। श्रीम मॉर्टन इंस्टीट्यूशन के अध्यक्ष (रेक्टर) तथा स्वत्वाधिकारी थे। इसी विद्यालय की चौथी मंजिल पर वे निवास करते थे और तुलसी तथा फूलों से सुसज्जित पास की छत पर सुबह-शाम धर्मचर्चा करते थे। उनके पास बहुत-से भक्त तथा युवक जाया करते थे। – सं.

बोले – "आइये, शरत् महाराज के सामने से होकर नहीं जाना पड़ेगा। उस ओर की सीढ़ी से चढ़ेंगे।" यह सुनकर जान-में-जान आयी। ऊपर जाकर पता चला कि माँ प्रतीक्षा कर रही हैं। माँ के कमरे में अर्थात् ठाकुर-घर में गया। देखा – माँ आसन पर बैठी हैं। सामने के एक आसन पर मुझे बैठने को कहा। दीक्षा का कार्य आरम्भ हुआ।

जो 'अग्निमय' नाम ठाकुर से प्राप्त हुआ था और किसी को बताया नहीं गया था, उसे माँ के मुख से उच्चरित होते ही मुझमें एक अपूर्व भाव का आवेश हुआ। उसमें महाबीज युक्त होते ही प्राणों में स्वत: उत्थित जटिल जिज्ञासा के उत्तर में माँ की जो महावाणी सुनी एवं उनके जिस रूप का दर्शन किया, वह वर्णनातीत है और मेरा बाह्यज्ञान लुप्त हो गया।

होश में आने पर देखा, कृपामयी माँ अपने हाथों से मेरी छाती सहला रही हैं। मेरी अवस्था पूरी तौर से सहज हो जाने पर ठाकुर की पूजा की वेदी पर उनका चित्र और दीवाल पर टँगा हुआ अपना एक चित्र दिखाते हुए माँ बोलीं – "उनका चिन्तन करने से भी होगा।" माँ ने दोनों को दिखाया। उनका आशीर्वाद पाकर उन्हें प्रणाम करके बाहर आया। सहसा लगा कि माँ ने मेरे सिर पर हाथ नहीं फेरा। ठीक तभी भीतर से फिर बुलावा आया। ब्रह्मचारी बोले – "माँ ने आपको बुलाया है।" मैं गया। माँ ने उसी दीक्षा के आसन पर बैठने को कहा। उसके बाद मैंने अपने सिर पर अन्तर्यामिनी माँ के श्रीहस्तों का स्पर्श अनुभव किया। माँ ने कहा – "अब हो गया न!" विह्वल के समान उनके चरणों पर सिर टेककर प्रणाम करने के बाद मैं कम्पित हृदय से बाहर आया।

पूज्यपाद श्रीम ने मुझे पहले पत्र में लिखा था कि श्री ठाकुर और माँ अभेद हैं। एक ही सत्ता हैं। केवल आवरण में भेद है। नर और नारी शरीर का भेद है।

अभीष्ट प्राप्ति होने के बाद जन्म-जीवन की सार्थकता सिर पर उतर आयी। जो भी हो, अब मैं शरत् महाराज को प्रणाम करने चला। उन्हें अभीष्ट लाभ होने की बात बतायी।

कहाँ की नाराजगी! मेरे बताने के साथ ही महाराज मुझे प्रेमालिंगन में आबद्ध करके बोले – "धन्य हो!" सजल नेत्रों से मैंने मन-ही-मन कहा – "आप पूज्य हैं – आप महान् हैं – आप विराट् हैं – आपको प्रणाम करता हूँ।"
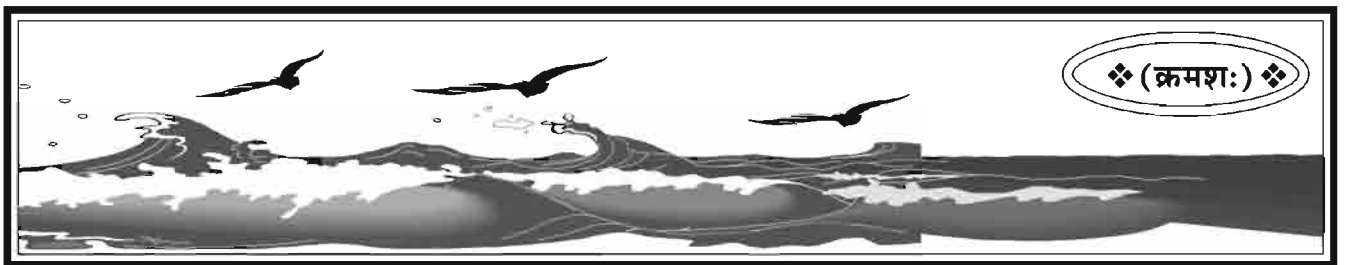
मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(१००) ईश-भजन परहित यह देहा

गाडगे महाराज का मूल नाम डेबू था। युवावस्था में एक दिन वे ऋणमोचन क्षेत्र में बहनेवाली पूर्णा नदी में स्नान करने गये। स्नान करते समय उनकी धोती में बँधा एक रुपये का सिक्का नदी में गिर गया। स्नान करने के बाद जब उन्हें इस बात का ख्याल हुआ, तो वे पुन: उसी जगह गये और पानी में हाथ डालकर रुपया खोजने लगे, किन्तु रुपया न मिला। सहसा उनके मन में विचार आया, "मैं भी कितना लोभी हूँ कि जो नहीं मिला, उसके लिये दुखी हो रहा हूँ। जिस प्रकार यह सिक्का नदी के प्रवाह में खो गया है, उसी तरह मेरा जीवन भी तो एक दिन काल-प्रवाह में खो जायेगा। मेरे समान न जाने कितने ही लोगों का जीवन यूँ ही व्यर्थ चला गया। मैंने बहुत-से लोगों को काल के गाल में समाते हुए देखा है, बहुत-से लोगों के दाह-संस्कार में मैं शामिल हुआ हूँ, इसके बावजूद मैं सजग नहीं हुआ। मेरा जीवन-चक्र पूर्ववत् चला जा रहा है। ऐसी स्थिति में मुझे सद्गति कैसे मिलेगी? ईश्वर की प्राप्ति कैसे होगी? इसके लिये मुझे अपनी तृष्णाओं पर अंकुश लगाना होगा। उन्हें विरक्ति हुई और वे भगवद्-भक्ति में लीन रहकर लोगों की सेवा करने लगे।

(१०१) मन को निस-दिन माँजिये

एक बार एक व्यक्ति सूफी संत जलालुद्दीन रूमी के पास गया और उसने बोला – "मैं साधना करना चाहता हूँ, मगर मेरा मन भटक जाता है। एकाग्र-चित से मैं मनन-चिन्तन नहीं कर पाता।" रूमी ने पास के एक गाँव में रहने वाले एक साधु का पता दिया और उसके साथ दो दिन बिताने को कहा। वह व्यक्ति जब उस साधु के पास गया, तो उसे वह साधु एक सामान्य व्यक्ति लगा। वह एक सराय की रखवाली करता था। उसमें साधु-पुरुष के कोई लक्षण नहीं थे। दो दिन उसके साथ रहकर वह रूमी के पास लौट आया और निराश मन से कहने लगा –"आपने जिस व्यक्ति के पास मुझे भेजा था, वह तो साधारण आदमी है। वह मुझे क्या शिक्षा देता! इसीलिये मैं वापस लौट आया।"

रूमी ने पूछा – "तुम्हें उसकी दिनचर्या में कोई खास बात दिखाई दी?" – "हाँ" – उसने उत्तर दिया – "वह व्यक्ति रात को सराय के सारे बर्तन माँजकर धोता है। फिर सुबह उठकर बिना उपयोग किये उन्हें पुन: माँजता है।"

"यही शिक्षा तो तुम्हें उससे ग्रहण करनी थी" – सन्त ने कहा – "तुम्हें भी अपने मन को रात को सोने से पहले और सुबह उठकर ठीक तरह से साफ करना चाहिये। इससे तुम्हारा मन निर्मल रहेगा। चित्त की निर्मलता ही मनुष्य को ऊँचा उठाती है। प्रात: उठते समय का आत्मबोध और रात को सोते समय का आत्मबोध मनुष्य के मन को एकाग्र बनाये रखता है। यही उच्च-स्तरीय साधना है। साधना का अर्थ है – मन को सुगठित बनाना। मन के निर्मल रहने से वह भटकेगा नहीं और तुम एकाग्रता से साधना कर सकोगे।"

(१०२) रहिमन बिपदा हू भली

एक बार जेन गुरु सिम्शा से मिलने उनका एक शिष्य आया। उस समय उनका मुकाम जंगल में था। जब वह शिष्य वापस जाने लगा, तो रात हो गई थी। उसने सिम्शा से कहा – "घनघोर अँधेरी रात में बीहड़ जंगल में से होकर जाते समय मुझे डर लग रहा है। इस यात्रा को यदि आप सुखद बना दें, तो बड़ी कृपा होगी।" गुरु बोले – "मैं थोड़ी दूर तक तुम्हारा साथ दे सकता हूँ।" उन्होंने एक दिया जलाया और उसे शिष्य के हाथ में देकर उसके साथ थोड़ी दूर तक चले। फिर सहसा उन्होंने दिया बुझा डाला और बोले – "अब अकेले ही जाओ, मैं वापस लौट रहा हूँ।"

अँधेरा होने से शिष्य बेहद घबरा गया। दुखी मन से वह बोला – "आपको दिया जलाना ही नहीं था। आपने उसे जलाया और उसे बुझा भी डाला। अब तो मुझे और डर लग रहा है।" गुरु ने कहा – "जिन्दगी का सफर ऐसा ही होता है। दूसरे के दिये की रोशनी हमारे अपने काम की नहीं होती। मंजिल तक पहुँचने के लिये ईश्वर ही साथ दे सकता है। उस पर भरोसा करके धीरज रखकर अपनी मंजिल की ओर बेखौफ बढ़ते रहना चाहिये।"

मनुष्य का जीवन सचमुच एक यात्रा ही है। इसमें कठिनाइयों के महासागरों को पार करना पड़ता है। हमें भगवान पर दृढ़ विश्वास रखकर इस पर चलना चाहिये, क्योंकि जीवन-पथ की समस्त कठिनाइयों के वे ही ज्ञाता होते हैं। तो भी विपत्तियों का हमें ही सामना करना होगा, इसलिये हमें धैर्य और साहस के साथ उनका सामना करना चाहिये। प्रतिकूलता हमारे जीवन का अभिन्न अंग है। हमीं को उसका प्रतिरोध करना होगा। ❑❑❑❑❑

दैवी सम्पदाएँ (२४) शौच या पवित्रता

भैरवदत्त उपाध्याय

(गीता में आसुरी गुणों के साथ ही दैवी गुणों का भी निरूपण किया गया है। विद्वान् लेखक ने इस लेखमाला में दैवी गुणों का सविस्तार विश्लेषण किया है और विभिन्न शास्त्रों व आचार्यों के विचारों के आधार पर बताया है कि इन्हें अपने जीवन में कैसे लाया जाय। – सं.)

गीता के अनुसार शौच चौबीसवीं दैवी सम्पत्ति है। दैवी प्रकृति के व्यक्ति इसके स्वामी होते हैं और आसुरी प्रकृति के लोगों में इसका अभाव होता है। उनमें न आचरण होता है और न सत्य।[१] गीता के तेरहवें अध्याय में इसे ज्ञान कहा गया है, क्योंकि यह ज्ञान साधना का एक अंग है।[२] ज्ञान की प्रक्रिया को अपना कर ही ज्ञेय परमात्मा का ज्ञान हो सकता है। यह शरीर का तप है।[३] महर्षि मनु ने यदि इसे धर्म के दस लक्षणों में गिना है, तो जैनाचार्यों ने उत्तम शौच को दस धर्मों में स्थान देकर सम्यक् चरित्र का एक साधन कहा है।[४] भागवत में मनुष्य के आचरण के जो तीस लक्षण गिनाये हैं, उनमें शौच का भी स्थान है।[५] महाभारत में शौच को स्वर्ग-प्राप्ति का साधन बताया गया है। जो ब्राह्मण शौचाचार से च्युत हुये, वे शुद्र हो गये और जो शौचाचार में स्थिर रहे, वे ब्राह्मण हैं।[६] ऐसा कोई धर्म, सम्प्रदाय, पन्थ या समाज नहीं, जिसमें शौच की अवधारणा न हो।

शुचेर्भावः शौचम् – शुचि का भाव शौच है। स्वच्छता, निर्मलता, शुद्धता, पवित्रता, निष्कलुषता और निष्पापता जैसे शब्द इसके आशय को कुछ स्पष्ट करते हैं। भौतिक रूप से किसी प्रकार का अपमिश्रण, प्रदूषण, विकार वा अपवित्रता अशौच है और मलों का अपनयन, प्रदूषण-मुक्ति, विकार-निवर्तन, अशुद्धि-सम्मार्जन शौच है। शुचि और शुद्धि अति प्राचीन शब्द हैं। ऋग्वेद में इन दोनों का क्रमशः बारह एवं छह बार प्रयोग हुआ है।[७] "शुद्धि के अन्तर्गत (जन्म-मरण के समय) अशौच, किसी अपवित्र वस्तु के स्पर्श से तथा कुछ घटनाओं के कारण उत्पन्न अपवित्रता, पात्रों (बरतनों) कूप, भोजन आदि की शुद्धि का विवेचन होता है। शुद्धि के अन्तर्गत अशौच का सबसे अधिक विवेचन है, इसी से 'शुद्धि-कौमुदी' में शुद्धि की परिभाषा यों दी है – **वेदबोधित-कर्मार्हता शुद्धिः** – अर्थात् वेद से बोधित कृत्यों के सम्पादन की दशा या उन्हें करने की योग्यता की स्थिति शुद्धि है। स्मृति शुद्धि शब्द को अशौच के उपरान्त की शुद्धि के अर्थ में लेती है।"[८] अशौच को आशौच भी कहा है। **स्मृति-मुक्ताफल** में कहा है – **आशौचं द्विविधं कर्मानधिकार-लक्षणम् अस्पृश्यत्व स्पृश्यत्व-लक्षणं च** – आशौच दो प्रकार का है जननाशौच और मरणाशौच। दोनों में व्यक्ति धार्मिक कृत्यों के अनुष्ठान का अधिकारी नहीं रहता और अस्पृश्य बन जाता है। यह शौच या शुद्धि शरीर शुद्धि और द्रव्यशुद्धि (वस्तु-शुद्धि) के रूप में भी कही गई है।[९] पुराण, सूत्र-ग्रन्थ, स्मृतियाँ तथा 'निर्णय-सिन्धु' एवं 'धर्म-सिन्धु' आदि अनेकानेक ग्रन्थ हैं जिनमें शौचाशौच का विचार और निर्णय किया गया है। विभिन्न प्रकार के पातक-उपपातकादि से शुद्धि हेतु जप, तप, तीर्थ, व्रत तथा प्रायश्चित्त आदि का विधान है।[१०]

गीता की दैवी सम्पत्तियों में 'सत्त्वसंशुद्धिः' और 'शौचम्' अलग-अलग पठन है। जिससे आन्तरिक तथा बाह्य – दोनों प्रकार की शुद्धियों की महत्ता प्रतिपादित है। सत्त्व अर्थात् अन्तःकरण के परवंचन, माया, आसक्ति, असत्य, अहंकार आदि भावों के प्रदूषण का अपनयन कर शुद्ध भाव से व्यवहार सत्त्वसंशुद्धिः और शरीर के मल का प्रक्षालन – शौच है।[११] आचार्य शंकर ने कहा है कि शारीरिक मलों को मिट्टी और जल से साफ किया जा सकता है तथा अन्तःकरण के रागद्वेषादि मलों को प्रतिपक्ष भावना-दोष के विरोधी गुण की भावना करने से स्वच्छ किया जा सकता है।[१२]

---

१. गीता, १६/७ २. गीता, १३/११ पर शांकर भाष्य – "ज्ञानार्थत्वात् .... ज्ञानसहकारि-कारणत्वाच्च ज्ञानम्।"

३. देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥ १७/१४

४. (अ) धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधः दशकं धर्मलक्षणम्॥ मनुस्मृति, ८१
(ब) मोक्षशास्त्र (जैनशास्त्र)

५. श्रीमद्-भागवतम्, ७/११/८/१२

६. महाभारत, शान्तिपर्व १८८/३ एवं १८८/१३

७. से १०. धर्मशास्त्र का इतिहास, तृतीय भाग, महामहो. पी.वी. काणे, हिन्दी अनुवाद – अर्जुन चौबे कश्यप, लखनऊ, पृ. ११८२

११. सत्त्वसंशुद्धिः – सत्त्वस्य अन्तःकरणस्य एवं संव्यवहारेषु परवंचन-मायावृत्तादिपरिवर्जनं शुद्धभावेन व्यवहारः इत्यर्थः।

१२. "शौचम् - द्विविधं मृज्जलकृतं बाह्यम्, आभ्यन्तरं च मनोबुद्धयोः

महर्षि पंतजलि ने अपने योग-दर्शन में शौच को योग के आठ अंगों में से द्वितीय अंग 'नियम' के अन्तर्गत रखा है। उन्होंने लिखा है – "शौच से अपने अंगों के प्रति जुगुप्सा, घृणा और दूसरों से संसर्ग न करने की भावना होती है। अर्थात् व्यक्ति को अपने शरीर की अपवित्रता का बोध होता है। तदुपरान्त वह उसे पवित्र करने का प्रयास करता है। उसे दूसरे शरीर के अपवित्र होने की प्रकृति का भी ज्ञान होता है। फिर वह अन्य शरीर के प्रति न तो आकर्षित होता है और न किसी प्रकार के सुख की कामना करता है। वह दूसरे से घृणा नहीं करता, अपितु समता का व्यवहार करता है। उसे अपनी देह के प्रति भी आसक्ति नहीं होती, क्योंकि वह अपने शरीर को स्वच्छ रखने में किसी प्रकार की काम-वासना से पीड़ित नहीं होता। उसके मन में शरीर के प्रति उदासीनता एवं उपेक्षा का भाव नहीं जगता। कारण है कि वह अपनी स्वच्छता को आचरण का महत्त्वपूर्ण अंग मानता है अत: निष्काम भाव से कार्यशुद्धि के नियम का पालन करता है।[१३]

शारीरिक शुद्धि, वाचिक शुद्धि, कौटुम्बिक शुद्धि और आर्थिक शुद्धि – ये चार प्रकार की शुद्धियाँ सन्त रामसुख दास ने अपनी गीता-व्याख्या' में उल्लिखित की हैं। उनका कथन है कि प्रमाद आलस्य, आरामतलबी, स्वाद-शौकीनी आदि से शरीर अशुद्ध हो जाता है। झूठ, चुगली, अपशब्दों का प्रयोग, बकवास, कटु वचन आदि से वाचिक अशुद्धि होती है। पक्षपात, स्वार्थ, कर्त्तव्य-त्याग, अन्याय, असमानतापूर्ण व्यवहार आदि से वाचिक अशुद्धि और लोभ-लालच तथा अनैतिक ढंग से अर्थोपार्जन करने से आर्थिक अशुद्धि होती है।[१४] महर्षि मनु ने उसी को शुद्ध माना है, जिसकी आजीविका के आर्थिक साधन पवित्र हों – **योऽर्थ-शुचिः सः शुचिः**।

महर्षि मनु के अनुसार मल से देह की अशुद्धि; दुर्विचार से मन की अशुद्धि; लोभ, परिग्रह, अनध्याय तथा भोग से आत्मा की अशुद्धि; और अहंकार, असत्य-निर्णय, राग-द्वेष आदि से बुद्धि की अशुद्धि होती है। जल से शरीर की शुद्धि, सत्य से मन की शुद्धि, विद्या तथा तप से आत्म-शुद्धि, और ज्ञान से बुद्धि की शुद्धि होती है –

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति।। ५/१०९

स्पर्शादि से शरीर एवं द्रव्यशुद्धि के सम्बन्ध में मनु का कथन है – ज्ञान, तप, अग्नि, आहार, मिट्टी, मन, जल, लेपन, वायु-कर्म, सूर्य और काल से कर्त्ता शुद्ध होता है –

ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनो वार्याञ्जनम्।
वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेःकर्तॄणि देहिनाम्।। ५/१०५

आर्य सनातन धर्म में स्नान का बड़ा महत्त्व है। स्नान किये बिना किसी भी धार्मिक विधि के सम्पादन का अधिकार नहीं है, परन्तु कुछ धर्म ऐसे भी हैं, जिनमें स्नान का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। उदाहरण के लिये ईसाई धर्म के सम्बन्ध में बर्ट्रेण्ड रसेल ने अपने ग्रन्थ 'विवाह और नैतिकता' में लिखा है – "चर्च ने स्नान करने की आदत पर आक्षेप किया। वे कहते थे कि जिस बात से शरीर अधिक आकर्षक बनता हो, वह पाप की ओर ले जाती है। गन्दगी की प्रशंसा की जाती थी और अपवित्रता की दुर्गन्ध में वृद्धि हो जाती थी।" सेंट पॉल ने कहा – "शरीर और वस्त्रों की पवित्रता का अर्थ है आत्मा की अपवित्रता।" जुँओं को दैवी मोती कहा जाता था और साधुजन का अनिवार्य चिह्न यह था कि उसका शरीर जुँओं से भरा हो। सन्त अब्राहम ने पचास वर्षों तक अपना मुँह और पैर नहीं धोये। सिल्विया नामक एक कुमारी ने साठ वर्ष तक स्नान नहीं किया। इसी प्रकार यूफ्राई ने जीवन भर स्नान नहीं किया।[१५] सन्त अग्नेस को स्नान न करने से उच्चपद मिला। असीसी सन्त फ्रांसिस ने धूलि या गन्दगी को पवित्र दरिद्रता का एक प्रमुख चिह्न माना।[१६] हिन्दूधर्म के वाममार्गी अघोरी और हठयोगी जो बौद्धधर्म की हीनयानी तथा वज्रयानी शाखाओं से प्रभावित थे, शौच के शास्त्रीय निर्देशों के विपरीत आचरण करते थे। जैनधर्म में धार्मिक अनुष्ठानों में स्नान की अनिवार्य बाध्यता नहीं है। इस्लाम में मात्र 'बुजू' – हाथ-पैर धोने पर बल है। एक हदीस में लिखा है – "बुजू में शरीर के जो अंग धोये जाते हैं, उनके द्वारा होनेवाले पाप क्षमा कर दिये जाते हैं।"[१७]

शुचिता के संधारण और संरक्षण के लिये दूसरे शरीर से असंसर्ग की प्रबल धारणा विकसित हुई। जिसके परिणाम में 'छुआछूत' का रोग उत्पन्न हुआ और अशौच कर्म के कारण कुछ लोग अस्पृश्य मान लिये गये। चूल्हे-चौके के कठोर नियम निर्धारित किये गये। अयोनिज शरीरों की कल्पना की गई। डॉ. राधाकृष्णन् ने लिखा है – "यह सही है कि इस देश में देह-शुद्धि एक चक्करदार पहेली भी रही है। **योनेः शरीरम्** माननेवाले भी अयोनिज शरीरों की इस देश में खूब चर्चा रही। बौद्धों की 'निर्वाण देह' जैनों की 'आहारक देह' और उसी के समानान्तर 'औपपाधिक देह' की व्याख्याएँ होती रही हैं। ईसाइयों की असंसर्गज देह (Immaculate

नैर्मल्यं मायारागादि-कालुष्याभाव एवं द्विविधं शौचम्।।"
"कायमलानां मृज्जलाभ्यां प्रक्षालनम्। अन्त: च मनस: प्रतिपक्ष-भावनया रागादि-मलानामपनयनं शौचम्।" – शांकर-भाष्यम्

१३. (अ) यम-नियमासन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधि:। (ब) शौचसन्तोषतप:स्वाध्यायप्रणिधानानि नियमा:। (स) शौचात् स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्ग: (द) स्वामी विवेकानन्द कृत 'राजयोग'

१४. सन्त रामसुख दास का गीता भाष्य हिन्दी। गीता प्रेस, गोरखपुर

१५. विवाह और नैतिकता, बर्ट्रेण्ड रसेल, दिल्ली

१६. 'धर्मशास्त्र का इतिहास', भाग-३, पृ. ११८२

१७. इस्लाम क्या है?, मौलाना मो. मंजूर नोमानी, पृ. ३७

Conception) अथवा पुरुष स्पर्शहीन गर्भ की बातें, कुमारी मेरी के पुत्र का रहस्य, तथा भगवती जगदम्बा की कुमारी और धूमावती के रूप में छिपी उनकी असंसर्गज-सृष्टि-क्षमता का विश्लेषण इसी अशौच को लेकर हुआ है।''[१८]

पूर्व में कहा गया है कि शौच-अशौच अथवा पवित्रता-अपवित्रता की अवधारणा तथा उसका व्यावहारिक स्वरूप सभी धर्मों, सम्प्रदायों, पन्थों एवं समुदायों में है, उसकी कुछ विवेचना निम्नानुसार है –

(अ) जैन धर्म में शौच – जैन धर्म उत्तम शौच को लोभ-कषाय का विपर्यय मानता है। लोभ-कषाय, क्रोध, माया और मान-कषायों से अत्यधिक दुर्दमनीय है। जिन गुण-दशाओं में जीव मुनि और अरिहन्त की श्रेणी में पहुँच जाता है, लोभ-कषाय उस दशा में भी विद्यमान रहता है। लोभ का सम्बन्ध केवल अर्थ तक ही सीमित नहीं है, इन्द्रियों के विषय-भोग से भी आगे उसकी सत्ता है। इसका सर्वथा तिरोभाव शौच है। इसमें परिग्रह की आकांक्षा नहीं रहती।

(ब) ईसाई धर्म में शौच – शौच या पवित्रता का अर्थ है पृथक्करण। अलग करने का कार्य परमेश्वर, परमेश्वर का पुत्र प्रभु ईसा और पवित्र आत्मा द्वारा किया जाता है। उल्लेखनीय है, ईसाई मत में शैतान की परिकल्पना है। शैतान मनुष्य को पाप की ओर उन्मुख करता है। उसने मानव-जाति को बन्दी बना लिया है। मनुष्य जन्म से भटका हुआ पापी है, परमेश्वर का शत्रु है। उसका उद्धार परमेश्वर, ईसा और पवित्र आत्मा के द्वारा होता है। ईसाई धर्म इन तीनों में एकत्व – त्रिएकत्व स्थापित करता है। पवित्र आत्मा व्यक्ति के हृदय में परिवर्तन करती है। जिससे वह शुभ कार्यों में प्रवृत्त होता है।[१९]

वैदिक विचार-धारा के अनुसार मनुष्य न तो जन्म से पापी है और न परमात्मा का शत्रु। ऐतरेयोपनिषद् में उल्लेख है – **ताभ्यः पुरुष-मानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति, पुरुषो बाव सुकृतम्**। (१/३/३) मनुष्य जन्म से सुकृत है। शुभ कर्म करनेवाला पुनीत है। उसे मूलत: पापी मान लेना हीनता की मनोग्रन्थि है और मनुष्य की सबसे बड़ी पराजय है।

(स) समाजशास्त्री दुर्खीम का मत – फ्रांस के दुर्खीम एक प्रसिद्ध समाजशास्त्री थे। 'एलीमेन्टरी फॉर्म आफ रिलीजस लाइफ' उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसमें धर्म की प्रकृति, उद्भव, रूपों, प्रभावों और विभिन्नताओं की सामाजिक सन्दर्भ में व्याख्या हुई है। उनके मतानुसार समाज धर्म का मूल स्रोत है। धार्मिक धारणायें स्वयं में कुछ नहीं हैं, वे सम्बन्धित समाज के चरित्र के प्रतीक हैं। स्वर्ग, स्वर्णिम समाज और ईश्वर उसके मानवीकृत रूप के सिवा कुछ नहीं है। धर्माचरण सामाजिक एकता की संरचना, प्रबलीकरण तथा संधारण की प्रेरणा से परिचालित होता है। उसके अनुसार धर्म के दो मूल आधार हैं – पवित्रता तथा अपवित्रता, पुण्य और पाप। सभी धर्म कुछ वस्तुओं, घटनाओं या आचरणों को पवित्र मानते हैं और कुछ को अपवित्र। पवित्र वस्तुयें या आचरण समाज के प्रतीक या प्रतिनिधान हैं, जिनकी तुलना में मनुष्य स्वयं को हीन या उन पर आश्रित मानता है। वह अपने को पवित्रता की भावना 'टोटम' से और अपवित्रता वर्जना (टैबू) से जोड़ता है। उसके मत में आरम्भिक अवस्था में 'टोटमवाद' ही धर्म का उद्‌गम है। पवित्रता की भावनायें, धार्मिक संवेग एवं विचार 'टोटम' से उद्‌गमित है। हर धर्म पवित्रापवित्र की स्पष्ट धारणा देता है और अपवित्र कार्यों या वस्तुओं से दूर रहने का निर्देश करता है। सामाजिक विश्वासों, अनुष्ठानों एवं उत्सवों से इनकी अभिव्यक्ति, सुरक्षा तथा पहचान होती है। दुर्खीम के शब्दों में ''संसार का इन दो क्षेत्रों में विभाजन, एक वह जिसमें सब कुछ पवित्र है, दूसरा वह जिसमें सब कुछ अपवित्र है, धार्मिक विचारों का विशिष्ट लक्षण है।''

अलेक्जेंडर गोल्डन वीजर ने दुर्खीम के सिद्धान्त को एकांगी, एकपक्षीय और अमनोवैज्ञानिक माना है।[२०]

(द) शौच : गीता का अभिमत

शौच के विषय में गीता का अभिमत शास्त्रसम्मत है। वह शास्त्र की विधियों का पूर्ण समर्थन करती है। उसके अनुसार जो शास्त्र की विधियों को छोड़कर स्वेच्छाचार करता है, उसे सिद्धि, सुख, और परमगति नहीं मिलती (१६/२३)। इसलिये शास्त्र को प्रमाण करके शास्त्रोक्त कर्म को करना चाहिये (१६/२४)। शास्त्रों में शौच के विधि-निषेधात्मक पक्षों का विवेचन तथा अशुद्धि से शुद्धि के उपायों का निरूपण है। अत: उनका अनुवर्तन आवश्यक एवं अनिवार्य है। शौच का आधार कुछ इस प्रकार का होना चाहिये –

(१) शौच का आधार है अभय। भय पर आधारित शौच शौच नहीं है।

(२) शौच ज्ञानमय और सविवेक होने के साथ व्यावहारिक होना चाहिये।

(३) इसमें आत्मसंयम एवं आत्मनिग्रह का भाव अपेक्षित है।

(४) शौचाचरण लोकार्पित तथा लोकसंग्रह के लिये हो।

(५) यह तप एवं साधना का पवित्र पथ है। इसमें किसी प्रकार का कपट, मायाचार, दिखावा तथा अहंकार न हो। सरलता होनी चाहिये।

(६) इसमें अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, मृदुता, लज्जा, संकोच, अचंचलता, धैर्य, क्षमा, अद्रोह तथा अनासक्ति का संयोजन अपेक्षित है।

---

१८. धर्म और विज्ञान

१९. बाइबिल के सौ महत्त्वपूर्ण अध्ययन, नई दिल्ली

२०. A History of Social Thought, R. N. Mukherjee

शौचाचारः सदाचारः – शौच का आचरण सदाचार है। इसके कुछ सामान्य सूत्र हैं, जिनका पालन होना चाहिये –

(१) ब्राह्म मुहूर्त में शय्या-त्याग कर धर्मार्थ चिन्तन।

(२) मल-मूत्र का नियमित एवं समय पर उत्सर्जन।

(३) नित्य स्नान तथा यथासाध्य व्यायाम करना।

(४) संध्या-वंदन, ईशस्तवन, देवार्चन व सद्ग्रन्थों का पठन।

(५) शुद्ध ताजा तथा सात्त्विक भोजन। अभक्ष्य, अपथ्य और राजसी तथा तामसी पदार्थों का सेवन न करना।

(६) चिन्तन तथा विचारों की सात्त्विकता।

(७) अपवित्र स्थान तथा वस्तुओं का त्याग।

(८) स्वच्छ वस्त्रों का धारण, अस्वच्छ वस्त्रों एवं वस्तुओं का निर्मलीकरण, बड़े-बड़े बाल एवं नाखून न रखना।

(९) हत्या, सेक्स व उत्तेजक साहित्य एवं दृश्यों का त्याग।

(१०) स्वच्छ, सुखद, निर्बाध तथा निरापद शय्या पर शयन।

(११) **मा गृधः कस्यचिद् धनम्** (किसी का धन न लेना), **सुरां न पिबेत्** (शराब न पीना), **अक्षैर्मादीव्येत्** (जुआ, लाटरी, सट्टा न खेलना), **मा हिंस्यात्** (हिंसा का त्याग), **न परस्त्रियमुपेयात्** (परस्त्री गमन न करे) आदि शास्त्र-आदेशों का पालन।

शुचिकामा हि वै देवा

ब्रह्माण्ड-पुराण (३/१४/६०) में लिखा है – देवता सदा पवित्र रहना चाहते हैं। पवित्रता का प्रयास व साधना करते हैं। आर्यजाति का मूल वैशिष्ट्य शौचाचार है। इस आचार से विहीन व्यक्ति की सब क्रियायें निष्फल हो जाती हैं –

कर्त्तव्यं यत्नतः शौचं शौचमूला हि द्विजातयः।
शौचाचारविहीनानां स्युर्निष्फलाः क्रियाः।।

(बृहत् पाराशर-स्मृतिः, ६/२११-२१२)

कौन-सा धर्म है, जो शौच का विरोध करता हो, जिसकी साधना का लक्ष्य शौच की प्राप्ति न हो?

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दया दमः शान्ति सर्वेषां धर्मसाधनम्।।

(याज्ञवल्क्य-स्मृतिः)

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, दान, दया, दम और शान्ति सभी धर्म-साधन हैं। यदि ऐश्वर्य के लिये यज्ञ करना हो, तो उसमें आवश्यक समिधायें हैं –

धृतिः शमो दमः शौचं करुणा वागनिष्ठुरा।
मित्राणां चानभिद्रोहः सप्तैता समिधः श्रियः।।

(महाभारत, उद्योगपर्व, ५/३८)

धृति, शम, दम, शौच, करुणा, मृदु वाणी और मित्रों से द्रोह का अभाव – ये सात ऐश्वर्य-शालिनी समिधायें है। अग्नि तेज का प्रतीक है। यज्ञ तेज प्राप्ति का मार्ग है। तेज जीवन की ऊर्जा है, जीवन का चरम लक्ष्य है, इसकी अभिवृद्धि के लिये शौच आवश्यक हैं –

ध्यानमध्ययनं दानं सत्यं ह्रीरार्जवं क्षमा।
शौचाचार-संशुद्धिरिन्द्रियाणां च निग्रहः।।
एतैर्विवर्धते तेजः पाप्मानं चापकर्षति।।

(महा. शान्तिपर्व २४१/१०-११)

ध्यान, अध्ययन, दान, सत्य, लज्जा, ऋजुता, क्षमा शौचाचार, संशुद्धि और इन्द्रियों का निग्रह इनसे तेज की वृद्धि और पाप का अपकर्षण होता है। जो पवित्रकर्मा और पवित्रात्मा है, उससे तो और लोग भी पवित्र हो जाते हैं –

शुचिकर्मा शुचिश्चैव भवत्यमितदीप्तिमान्।
विमलात्मा च भवति समेत्य विमलात्मना।। वही ८.२९

जो पवित्र कर्म करनेवाला तथा पवित्र है वह अमित तेजस्वी होता है। शुद्ध आत्मावाले व्यक्ति से अन्य व्यक्ति भी शुद्धात्मा हो जाता है। धर्मज्ञों का कथन है –

वाग्देहमनसां शौचं क्षमा सत्त्वं धृतिः स्मृतिः।
सर्वधर्मेषु धर्मज्ञ ज्ञापयन्ति गुणाञ्छुभान्।। वही २१४/६

वाणी, देह और मन की पवित्रता, क्षमा, सत्त्व (तेज), धैर्य तथा स्मृति – इन गुणों को प्रायः सभी धर्मों में धर्मज्ञ कल्याणकारी बताते हैं। जो दुरात्मा और आसुरी प्रकृति के हैं, उनमें शौच का विवेक नहीं होता –

अनसूयाऽऽर्जवं शौचं सन्तोषः प्रियवादिता।
दमः सत्यमनायासो न भवन्ति दुरात्मनाम्।।

(वही, उद्योगपर्व, ३४/७२)

ईर्ष्या का अभाव, आर्जव, शौच, सन्तोष, प्रियवादिता, दम, सत्य और अचंचलता के गुण दुरात्माओं में नहीं होते।

परमात्मा – पावनः पावनानाम्

परमात्मा पावनों में पावन है – **पावनः पावनानाम्**। उसके नाम का स्मरण मात्र जीव को भीतर और बाहर दोनों ओर से पवित्र कर देता है, भले वह पवित्र हो या अपवित्र, अथवा किसी भी दशा में क्यों न हो!

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः।।

प्रभु पतित-पावन हैं। अजामिल, गीध, गणिका, शबरी, निषाद जैसे अगणित पतितों को उठाया है। उनकी शरण में जो आया, वह फिर अपवित्र, अपावन कहाँ है? वह तो परम पावन हो जाता है। उसके लिये फिर कौन-सा शौचाचार शेष है? गोस्वामीजी कहते है कि श्रुतियों ने व्रत, दान, ज्ञान, तप आदि अनेक उपाय शुद्धि के बताये हैं, पर श्रीराम-चरणों के अनुराग-नीर के बिना मल की शुद्धि नहीं हो सकती –

तुलसीदास व्रतदान, ज्ञान, तप शुद्धि हेतु श्रुति गावै।
रामचरण अनुराग नीर विनु मल अति नास न पावै।।

(विनय-पत्रिका)

❖ (क्रमशः) ❖
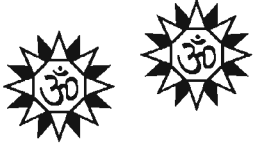
पातञ्जल-योगसूत्र-व्याख्या (२)
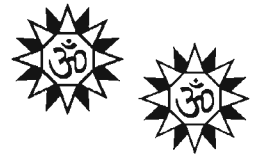
स्वामी प्रेमेशानन्द

(माँ श्री सारदा देवी के वरिष्ठ शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी ने १९६२ ई. के फरवरी माह में अपनी अस्वस्थता के दौरान वाराणसी में अपने सेवक को पातञ्जल योगसूत्र पढ़ाया था। इनके पाठों को सेवक एक नोटबुक में लिख लेते थे। बाद में सेवक – स्वामी सुहितानन्द जी ने उन पाठों को सुसम्पादित कर एक बँगला ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ पातञ्जल योग जैसे गूढ़ विषय पर इस सहज-सरल व्याख्या का हिन्दी अनुवाद रायपुर आश्रम के स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है। – सं.)

प्रथम अध्याय

समाधिपाद

अथ योगानुशासनम् ।।१।।

अब योग की व्याख्या करते हैं।

व्याख्या – जो लोग सुशिक्षित हैं, अर्थात् जिनका शरीर और मन उनके वश में है, जिनका अपने तन-मन पर नियन्त्रण है तथा जो लोग अन्तर्जगत में, अपने हृदय-प्रदेश में प्रवेश करने के इच्छुक हैं, केवल वे लोग ही ध्यान योग की साधना करने के अधिकारी हैं। वे अधिकारी व्यक्ति, यदि इस तथ्य को समझ सकें कि ब्रह्म ही मुमुक्षुओं का साध्य-लक्ष्य है एवं साधना के द्वारा मन को संसार से हटाकर साध्य-ब्रह्म से ही संयुक्त करना है, तभी वे लोग योग-साधना के उपयुक्त अधिकारी हो सकते हैं।

इस प्रकार जो लोग साध्य-साधन के सम्बन्ध में शिक्षा प्राप्त किये हैं, उपदेश श्रवण किये हैं, ऐसे अधिकारियों के लिये महर्षि पंतजलि जी उपदेश दे रहे हैं। योगसूत्र के प्रथमसूत्र 'अथ' शब्द का यही तात्पर्य है।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।।२।।

चित्त-वृत्तियों के निरोध का नाम योग है।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।।३।।

तब साधक स्वरूप, स्वभाव में स्थित हो जाता है।

वृत्ति सारूप्यमितरत्र ।।४।।

अन्य दूसरे समय में साधक चित्तवृत्ति के साथ संयुक्त रहता है।

व्याख्या – हमलोगों का मन जन्म-जन्मान्तरों से केवल बाह्य विषयों को लेकर ही व्यग्र था, व्यस्त था। अब आत्मज्ञान-प्राप्ति हेतु मन की समस्त क्रियाओं का, वृत्तियों का निरोध करना होगा। मन का चिन्तन बन्द होने पर भी 'मैं हूँ' इसे समझ सकते हैं, इसका बोध कर सकते हैं। मात्र इस 'अहं-बुद्धि' का आश्रय लेकर हमें स्थिर होकर दीर्घकाल तक बैठे रहना पड़ेगा। यही योग-साधना का प्रथम उपदेश है।

वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः ।।५।।

क्लेशपूर्ण और क्लेशरहित भेद से वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं।

प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतयः ।।६।।

जैसे – प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निन्द्रा और स्मृति।

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ।।७।।

प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम (तत्वज्ञ-वाक्य) इन्हें प्रमाण कहते हैं।

विपर्ययोः मिथ्याज्ञानमतद्रूप प्रतिष्ठम् ।।८।।

विपर्यय का अर्थ मिथ्याज्ञान है अर्थात् जो उस वस्तु के यथार्थ स्वरूप की धारणा में प्रतिष्ठित नहीं है।

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ।।९।।

केवल शब्द से जो ज्ञान होता है, जबकि कथित वस्तु का अभाव है, वह वस्तु अस्तित्व में नहीं है, उसे ही विकल्प कहते हैं।

अभाव-प्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ।।१०।।

जो वृत्ति शून्यभाव का अवलम्बन करके रहती है, वह निद्रा है।

अनुभूत विषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ।।११।।

अनुभूत विषय जब मानस-पटल पर अंकित हो जाते हैं, तब उन्हें स्मृति कहते हैं।

व्याख्या – प्राय: हम लोग मनोदशा पर, मानसिक अवस्था पर ध्यान नहीं देते। किन्तु मन को निष्क्रिय करने के लिये किन-किन परिस्थितियों, क्रियाओं से गुजरना पड़ता है, इस पर ध्यान देना, इसे समझना अत्यन्त आवश्यक है। हमलोग दिनभर जो सोचते हैं, चिन्तन करते हैं, वह लगभग पाँच प्रकार का होता है। प्रत्येक चिन्तन से कभी सुख, कभी दुख होता है। साधारणत: हम लोग जहाँ, जिस अवस्था में रहते हैं, वहीं के दैनिक कार्यों का चिन्तन करते रहते हैं। कभी-कभी अशिक्षा और कुसंस्कार के कारण अद्‌भुत कल्पना भी मन में आती है। एनलेसकार के 'डे-ड्रीम' (दिवा-स्वप्न) की घटना सबको ज्ञात है। हम लोग सर्वदा ही अपने अतीत जीवन के सुख-दुख की घटनाओं का चिन्तन करते-रहते हैं और जब चिन्तन करते-करते थक जाते हैं, तब मन मानो कुण्डली मारकर निश्चल हो जाता है। मन की यह विचित्र लीला ही तो हमारा जीवन है।

अभ्यास वैरागाभ्यां तन्निरोधः ।।१२।।

अभ्यास और वैराग्य के द्वारा इन वृत्तियों का निरोध किया जाता है।

तत्र स्थितो यत्नोऽभ्यासः ।।१३।।

– वृत्तियों को नियन्त्रण करने के प्रयत्न को अभ्यास कहते हैं।

स तु दीर्घकालेनैरन्तर्य सत्कारासेवितो दृढ़भूमिः ।।१४।।

– दीर्घकाल तक अविराम निष्ठापूर्वक चेष्टा करने से अभ्यास सुदृढ़ होता है।

दृष्टानुश्रविकविषय-वितृष्णस्य वशीकारसंज्ञो वैराग्यम् ।।१५।।

– जिन्होंने दृष्ट या श्रुत विषय-कामनाओं का त्याग कर दिया है, उन्हें ही 'वशीकार' नामक वैराग्य की उपलब्धि होती है।

व्याख्या – हम लोगों का जीवन यानि स्थूल और सूक्ष्म शरीर की क्रिया, ये दोनों ही अविद्या तत्त्व से निर्मित हैं। ये सब ईंट-पत्थर के समान जड़वस्तु हैं। इनकी क्रियाओं को बन्द करने के लिये सर्वप्रथम आवश्यक है – यह जानकर मन के आकर्षण को बन्द करने की चेष्टा करना कि यह खेल (क्रिया) मेरे लिये व्यर्थ है, किसी काम की नहीं है। दूसरा, इस क्रिया को बन्द रखने के लिये दृढ़ इच्छा शक्ति का प्रयोग करना।

पान-तम्बाकू की सामान्य-सी नशा को छोड़ना भी हम लोगों को कठिन लगता है। इस नशा को छोड़ने से हमारा थोड़ा-सा भी उपकार तो होता ही है। व्यर्थ शक्ति-क्षय, अर्थ-व्यय और नशा हमें अपना दास बना लेती है, हमें इन सबका विचार करना चाहिये। उसके बाद बीच-बीच में उसे छोड़कर देखना चाहिये कि नशा नहीं करने से हमारी कोई हानि होती है या नहीं।

इस संसार-भोग की नशा को छोड़ने के लिये ऐसे विवेक-बुद्धि से विचार करने की आवश्यकता है – अनन्तकाल से इस पंचेन्द्रिय और मन को कितना भोग प्रदान किया, फिर भी थोड़ी-सी भी तृप्ति नहीं हुई, बल्कि उलटे, अतृप्ति क्रमशः बढ़ती ही चली जा रही है। इसलिये अब इस दिशा में अग्रसर होना उचित नहीं है। इस प्रकार विचार के द्वारा तथ्य स्पष्ट हो जाने पर बीच-बीच में मन-बुद्धि के इस खेल को बन्द करके देखना चाहिये कि हमारे भीतर इतना आनन्द है कि बाह्य वस्तु के साथ क्रीड़ा करना मेरे लिये हानिकर है।

इस प्रकार अभ्यास की सहायता से वैराग्य जब परिपक्व हो जायेगा, तब त्रिगुणात्मिका माया का बन्धन सम्पूर्णतः शिथिल हो जायेगा और निज स्वरूप की धारणा स्पष्ट हो जायेगी।

इस संसार-भोग के ऊपर जो अनन्त जीवन, अनन्त ज्ञान और असीम आनन्द है, उसे आप्तपुरुषों से सुनकर या शास्त्र को पढ़कर बार-बार विवेचन करना चाहिये। आप्तपुरुषगण जो कि आनन्द में जीवन-यापन करते हैं, वह उनकी लीलाओं के द्वारा प्रकाशित होता है तथा उनकी मूर्ति और तत्त्व-चिन्तन करने से संसार के ऊपर उठने की एक आकांक्षा जागृत होती है। योगाभ्यास करने के पूर्व इसका विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिये।

मन की अतिशय चंचलता को रोकने के लिये विचार करके समझना होगा कि कितने जन्मों से मैं मन के इस खेल को लेकर मतवाला हूँ, उससे तो मेरा कुछ भी लाभ नहीं हुआ। इसलिये शान्ति-प्राप्त करने के लिये मन की इस चंचलता को बन्द करना होगा। इससे अनेकों प्रकार की चिन्ता करने की जो आदत है, उससे खिन्नता, वितृष्णा होगी। तब पूर्वोक्त मार्ग की सहायता से मन को संयमित करना होगा।

यह अभ्यास (मन की चंचलता) एक-दो दिन में नहीं जायेगी। अनन्त जन्मों के इस अभ्यास को बन्द करने के लिये बहुत दिनों तक अविराम मानसिक चिन्तन को बन्द रखना होगा। मानसिक चिन्तन बन्द रखने से अपना स्वरूप बोध होगा। इससे लेश मात्र भी हमारी क्षति नहीं होगी। बल्कि यह दृढ़ विश्वास करना होगा कि इसके द्वारा मैं दुःख से पूर्णतः मुक्त हो जाऊँगा।

कभी-कभी किसी विशेष कष्ट को पाने पर लोगों के मन में वैराग्य का उदय होता है। उससे कोई स्थायी फल नहीं मिलता। किन्तु जिन लोगों ने सूक्ष्म दृष्टि की सहायता से अथवा विवेक-बुद्धि के द्वारा सुख प्राप्ति की वस्तु के विषय में जितना समझा है एवं दूसरों से श्रवण किया है, उनमें से एक भी मेरे लिये उपकारी नहीं है तथा भोग-वासना का पूर्ण रूप से त्याग कर देने पर हमारा लेश मात्र भी अहित नहीं होगा – इसे पूर्ण रूप से जिन लोगों ने समझा है, उन्हीं लोगों का ठीक-ठीक वैराग्य रहता है। वशीकार संज्ञा का अर्थ है – (संज्ञा, अर्थात् ज्ञान) भोग सब प्रकार से हेय, तुच्छ है तथा भोग-वस्तु हमें कभी भी प्रलुब्ध, आकर्षित नहीं कर सकती, इसका बोध होना, इसका ज्ञान होना है। ❖ **(क्रमशः)** ❖

विज्ञानयुक्त धर्म और धर्मयुक्त विज्ञान – २१वीं सदी की आवश्यकता

डॉ. ए.पी. राव

'विज्ञानयुक्त धर्म और धर्मयुक्त विज्ञान' – इस विषय का तात्पर्य बताने के पूर्व मैं आपको वह कारण बताना चाहूँगा, जिस हेतु मैंने अपने इस लेख का यह विषय चुना है।

हमारे दिमाग में ऐसे अनेक प्रश्न उठा करते हैं, जिनका हम स्वयं उत्तर नहीं ढूँढ़ पाते। तो हम क्या करते हैं? हममें से प्रत्येक इन प्रश्नों का अपने ढंग से समाधान निकालते हैं।

कुछ उदाहरण लेते हैं – कुछ वर्षों पूर्व एक वैज्ञानिक प्रयोग हुआ, जिसमें डॉक्टरों ने चूहों तथा मेंढकों के सिर में दोनों आँखों के बीच एक तीसरा नेत्र विकसित किया। आपने उस प्रयोग के बारे में भी पढ़ा होगा, जिसमें वैज्ञानिकों ने पाया कि विशेष प्रायोगिक परिस्थितियों में, सेसियम वाष्प के बीच प्रकाश की गति को कई गुना बढ़ाने में सफलता मिली।

प्रकाश की गति मूल रूप से स्थिर कही गयी है, जिसे कदापि बदला नहीं जा सकता। हमारे लिये समय, आयु आदि की सारी गणनाएँ इसी पर आधारित हैं। क्या आपने सोचा है कि यदि प्रकाश की गति को बदलना सिद्ध हो सके, तो उसका क्या परिणाम होगा? आपने उस व्यक्ति की कथा पढ़ी होगी, जो एक यान में प्रकाश की गति से उड़ते हुए अन्तरिक्ष की यात्रा करता है। थोड़ी देर बाद ही जब वह लौट कर आता है, तो उसे यहाँ एक भी परिचित चेहरा दिखाई नहीं देता। प्रकाश की गति से यात्रा करने के कारण, उसके लिये समय रुक गया था। जब तक उसकी 'थोड़ी देर' हुई, तब तक पृथ्वी पर सैकड़ों वर्ष गुजर चुके थे। यद्यपि यह एक कहानी है, इसके पीछे एक वैज्ञानिक सत्य है।

धर्मग्रन्थों में हम पढ़ते हैं कि दुनिया में सबसे तेज गति मन की है। यह 'भाव' है, चिन्तन है, जिसे हम 'भाव-तरंग' 'विचारों की तंरग' कहते हैं। विज्ञान ने 'पदार्थ-तरंग' (matter wave) को तो वर्षों पहले खोज ली है, परन्तु अभी तक वह 'विचार-तरंग' (thought wave) की खोज नहीं कर सका है। इस 'विचार-तरंग' का 'तरंग-दैर्घ्य' 'पदार्थ-तरंग' (matter wave) से कम और इसकी 'गति' प्रकाश से अधिक होनी चाहिये। हालाँकि विज्ञान में तो नहीं, पर परा-विज्ञान में इसे मान्यता दे दी गई है। परावैज्ञानिकों ने 'टेलिपैथी', 'दूर-चिकित्सा' आदि के नाम से इसी 'विचार-तरंग' पर कई तरह के प्रयोग किये हैं। इसे हमारे पुरातन मनीषी बिना किसी ताम-झाम के सहज ही कर लिया करते थे।

एक दूसरा उदाहरण मैं 'स्पेस' (आकाश) का देना चाहता हूँ। 'स्पेस' अर्थात् आकाश हमारे चारों ओर का वातावरण या परिवेश है, जिसमें हम निवास करते हैं। वैज्ञानिक एक शब्द का इस्तेमाल करते हैं – Unlimited space (अनन्त आकाश), जिसका कोई अन्त नहीं। यदि मैं किसी एक दिशा में, बिना रुके और बिना ऊर्जा खर्च किये सतत चलता जाऊँ, (मान लीजिये ऊपर आकाश की ओर), तो अन्त में कहाँ पहुँचूँगा? यह हमारे लिये अकल्पनीय है। हमारा मन असीम, अनन्त, सर्वव्यापी आकाश की धारणा नहीं कर पाता।

वस्तुत: हम सबकी सीमाएँ भिन्न-भिन्न होने से, हम सब का अनन्त भी भिन्न-भिन्न है। मान लो, एक मछली समुद्र के बीच में है, किनारे से इतनी दूर कि जीवन भर चलती रहे तो भी किनारे न पहुँचे। समुद्र का पानी ही उसका आकाश (स्पेस) है। चारों ओर पानी-ही-पानी। एक दूसरी मछली है, जो किनारे के पास है। वह जानती है कि यहाँ पानी खत्म होता है और रेत तथा धरती शुरू होती। अब यदि वह दूसरी मछली पहली को समझाये कि पानी के अलावा रेत और भूमि का भी अस्तित्व है, तो पहली मछली किसी भी हालत में नहीं समझ सकती कि रेत और मिट्टी क्या है, जहाँ पानी नहीं है। इसी प्रकार हम मनुष्य त्रिआयामी हैं; हम लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई को एक साथ देख और समझ सकते हैं। जैसे द्विआयामी प्राणी को तीसरा आयाम कैसे भी समझाया नहीं जा सकता, वैसे ही हमें भी समय का चौथा आयाम नहीं समझाया जा सकता। उसके लिये एक और नेत्र जरूरी है। वह है तीसरा नेत्र, जो भगवान शंकर के पास माना जाता है। यदि हम कहें कि सबकी समझने की अपनी-अपनी सीमाएँ हैं, तो फिर विशेष कोशिश कर अपनी सीमा बढ़ानी होगी। साधारण व्यक्ति अपनी सीमा एक हद तक ही बढ़ा सकता है। बहुत-सी बातें जब मस्तिष्क को आन्दोलित करती हैं, तब हम अधिक सोचने को मजबूर होते हैं और तब हम विज्ञानयुक्त धर्म और धर्मयुक्त विज्ञान की जरूरत समझते हैं।

श्रीरामकृष्ण परमहंस की उक्तियाँ और विवेकानन्द-साहित्य पढ़ने से हमें ज्ञात होता है कि इन्होंने कितने वर्ष पूर्व विज्ञान और धर्म के अन्तर्निहित सम्बन्धों को जान लिया था और सम्पूर्ण मानव-जाति को इसे जानने की आवश्यकता के बारे में बताया था। विज्ञान यदि अधर्मयुक्त हो, तो उसके फल-स्वरूप हिरोशिमा-नागासाकी तथा इसी तरह की और भी विभिषिकाएँ देखने को मिलेंगी। फिर यदि धर्म विज्ञानयुक्त न हुआ, तो अन्धविश्वास सारे समाज को और अधिक पिछड़ा बनायेगा तथा हम २१वीं सदी के उन्नत मानव कहलाने के अधिकारी नहीं बन सकेंगे। अत: इसमें कोई सन्देह नहीं कि

धर्म की वैज्ञानिक व्याख्या और विज्ञान की धर्मयुक्त प्रगति ही एक सभ्य तथा पूर्ण समाज और मानव-जाति का निर्माण करने में सफल होगी। इसलिये पूर्व और पश्चिम का सार्थक मिलन ही इस दुनिया को सही राह दे सकता है और इसके लिये दोनों को आपसी मतभेद भुलाकर, एक साथ मिलकर धर्म और विज्ञान को पुन: शिखर पर पहुँचाना होगा। इन दोनों के मिलन से जो मानवीय परिपक्वता आयेगी, वही एक उन्नत समाज का निर्माण करेगी, जिसमें हम सब अन्तिम सत्य को जानने के लिये प्रयास करेंगे और सफल होंगे।

याद रहे, हम उसे नहीं खोज सकते, जो नहीं है। जो है, उसे जान लेने को ही हम 'खोज' कहते हैं। मसलन हमने 'न्यूटन के गति के नियम' की खोज की। जब यह नियम हमें ज्ञात नहीं था, तब भी क्रिया और प्रतिक्रिया विरुद्ध दिशा में बराबर मात्रा में ही होती थी। जब गुरुत्वाकर्षण के नियम की खोज नहीं हुई थी, तब भी सेव पेड़ पर से नीचे ही गिरते थे। जब पराविज्ञान में टेलिपैथी को मान्यता नहीं थी, तब भी हम छठी इन्द्रिय को बोध करते थे और उसके दिशा-निर्देश समझते थे। अत: वैज्ञानिक खोज का सीधा अर्थ है प्रकृति के रहस्यों को अधिक गहराई से जानना और खोलकर देखना। प्रकृति में नियम हैं। जब हम कोई नियम जान लेते हैं, तो वह हमारी खोज हो जाती है। हमें समझना होगा कि प्रकृति को जितना हम जानते हैं, उससे कई गुना अधिक ऐसा है, जो हम नहीं जानते। हमारी प्रगति की रफ्तार तेज हो सकती है, यदि हम विज्ञान, दर्शन और धर्म को एक समन्वित प्रक्रिया के रूप में लें और उनके अन्तर्निहित सम्बन्धों को देख सकें। हमारी प्रगति की रफ्तार तेज हो सकती है, यदि हम विज्ञान को धर्मयुक्त बना सकें और धर्म को विज्ञानमय दृष्टि से देख सकें। इसके लिए हमें दोनों को नये सिरे से जानना और समझना होगा। एक अनपढ़ ने, वैज्ञानिक आइंस्टाइन से उनके 'समय की सापेक्षता' का सिद्धान्त समझने की इच्छा प्रकट की। वह बोला कि वैज्ञानिक सूत्र उसकी समझ के परे हैं। तब आइंस्टाइन ने बताया – "जब तुम कोई मनपसन्द काम करते हो, तो समय कैसे निकल गया, पता नहीं चलता और मन के प्रतिकूल काम करते हुये दस मिनट में दस बार घड़ी देखते हो कि समय कट ही नहीं रहा है, इससे समय की सापेक्षता सिद्ध होती है और यही है मेरा सापेक्षता का सिद्धान्त, जिसे मैंने मात्र गणित में बैठाया है।" विज्ञान की हर खोज को इस दृष्टिकोण से समझना और समझाना ही वास्तविक प्रगति है। आम तौर पर हम कहते हैं – "मैं सामने से निकल गया, आप देख रहे थे, पर आपने ध्यान नहीं दिया।" इसका अर्थ यह है कि आँखें देखने का औजार अवश्य हैं, पर वे सिर्फ उसी विषय को ग्रहण करती हैं, जिसे उनको चलानेवाला मालिक यानि मस्तिष्क स्वीकार करे।

धर्म के पहलुओं को समझाने के लिये विज्ञान ने एक प्रयोग किया। इसमें काँच के दो गिलास एक दूसरे के अन्दर डालकर उनके बीच में ग्लिसरीन और एक बूँद काली स्याही डाल दी गयी। दोनों सिरों को सील कर दिया गया। जब अन्दर के गिलास को स्थिर रखते हुये, बाहर के गिलास को घुमाया गया, तो स्याही तरल होते हुये गायब हो गई। अब वहाँ कोई काली बूँद नहीं। परन्तु जब गिलास को उल्टी दिशा में उतनी ही बार घुमाया गया तो स्याही की बूँद वापस वैसी-की-वैसी दृष्टिगोचर हो गई। ऐसा नहीं है कि जब बूँद नहीं दिख रही थी, तब वह नहीं थी। यदि हम दिशा और चक्कर न जानते, तो उस बूँद को पुन: ढूँढ़ पाने की सम्भावना नहीं के बराबर थी। जिस परिणाम को देखकर, उसकी क्रिया के मूल या आरम्भ को हम नहीं देख पाते, तब हमें लगता है कि परिणाम बिना-कारण के – अज्ञात से आ रहा है। पर आधार में क्रिया होती अवश्य है, चाहे हम उसे देख पायें या न देख पायें? इसी को धर्म में प्रारब्ध या भाग्य कहा गया है। धर्म को विज्ञान की सहायता से अपने क्रिया-कलापों की जाँच करनी चाहिये। आज विज्ञान के पास ऐसे उपकरण हैं, जिससे मस्तिष्क की तरंगें नापी जा सकती हैं। ध्यान की अवस्था में ये तरंगे ३५०-५०० चक्र प्रति क्षण होती हैं। जबकि सोते समय इनकी गति मात्र ३-५ चक्र प्रतिक्षण होती है। बाह्य रूप से सोते हुये व्यक्ति और ध्यानस्थ व्यक्ति में कोई अन्तर नहीं है। परन्तु विज्ञान की सहायता से जाना जा सकता है कि कौन सो रहा है और कौन ध्यान (meditation) की स्थिति में है। इसी तरह नवीन विज्ञान की समस्याओं को धर्मशास्त्र की सहायता से सुलझाना समय की आवश्यकता है। गले में दर्द होने पर, टांसिल्स बढ़ने पर आज डॉक्टर उसे शरीर से निकल फेंकता है। यह बेकार है, शरीर को इसकी आवश्यकता नहीं है। परन्तु हमारे योगी बताते हैं कि बिना टांसिल्स के व्यक्ति को चुप रहना और गहरे ध्यान में उतरना बहुत कठिन है। विज्ञान अब भी सामान्य तापक्रम पर काम करनेवाला अति-चालक (सुपर-कंडक्टर) खोज रहा है, सफलता अभी दूर है। धर्मशास्त्र कहता है, अति से प्रतिक्रिया आती है। धर्म विज्ञान से कह रहा है कि कार्बन के साथ प्रयोग करके देखो। चूँकि कार्बन सबसे बड़ा ज्ञात कुचालक है, तो उसके सुपर-कंडक्टर होने की सम्भावना बनती है।

इसी को लेखक विज्ञानयुक्त धर्म और धर्मयुक्त विज्ञान कहता है, जो कि इक्कीसवीं सदी की परम आवश्यकता है। इसमें पूर्व का अध्यात्म और पश्चिम का विज्ञान मिलकर एक नये समाज और संसार की रचना करेंगे, जिसमें विज्ञान की सहायता से आध्यात्मिक उन्नति और धर्म की सहायता से वैज्ञानिक प्रगति – एक नया इतिहास रचेगी। शायद ऐसे ही संसार की कल्पना स्वामी विवेकानन्द ने की थी। ❑❑❑

विवेकानन्द-कृषि-अनुसन्धान-शाला के संस्थापक –

वैज्ञानिक बोशी सेन

रणतोष चक्रवर्ती

(स्वामी विवेकानन्द से प्रेरणा लेकर उनके एक अनुरागी बोशी सेन ने वनस्पति-शास्त्र तथा कृषि-विज्ञान के क्षेत्र में अग्रदूत के रूप में महान् शोधपरक कार्य किये थे। उनके जीवन तथा कार्यों पर किंचित् आलोकपात् करनेवाले इस लेख का 'उद्बोधन' मासिक के जुलाई २००४ ई. के अंक से हिन्दी अनुवाद इसी आश्रम के स्वामी प्रपत्यानन्द जी ने किया है। – सं.)

सामान्य व्यक्ति के मन में ऐसी धारणा होती है कि विज्ञान और धर्म परस्पर विरोधी हैं। अतीत काल में ऐसी कुछ घटनाएँ हुई हैं, जिनमें धार्मिक कारणों से बाध्य होकर विज्ञान के सत्यों को कुछ समय के लिए अन्धकार में रहना पड़ा है। सत्यान्वेषक वैज्ञानिक को धर्मान्ध लोगों का अत्याचार सहना पड़ा है। यद्यपि इसे सभी मानते हैं कि विज्ञान एक सुश्रृंखल विचार-धारा या प्रणाली है, जिसकी नींव प्रत्यक्ष दर्शन, तर्क और परीक्षण द्वारा प्रमाणित है। परन्तु समय-समय पर चिन्तनशील दार्शनिक, वैज्ञानिक और विद्वान् कहते रहे हैं कि विज्ञान और धर्म परस्पर विरोधी धाराएँ नहीं हैं। बीसवीं शताब्दी के एक श्रेष्ठ वैज्ञानिक अलबर्ट आइंस्टाइन की दृष्टि में प्रकृति के कार्य-कारण सम्बन्ध का रहस्य 'ईश्वर' है। वे विश्वास करते थे कि धार्मिक विचार ही विज्ञान के अनुसन्धान हेतु सबसे प्रबल विचार है। यहाँ धर्म से उनका तात्पर्य आचारगत धर्म से नहीं था। इस प्रकार आधुनिक युग के कई मनीषियों ने विज्ञान और धर्म के बीच समन्वय-विषयक अनेक विचार दिये हैं और कहा है कि इन दोनों में वैसा कोई भेद नहीं है। रोमाँ रोलाँ कहते हैं कि स्वामी विवेकानन्द के लिये धर्म विज्ञान द्वारा आलोकित था। प्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रो. सत्येन्द्रनाथ बसु कहते हैं – "विवेकानन्द के जीवन में वैज्ञानिकता और आध्यात्मिकता का विलक्षण समन्वय दृष्टिगोचर होता है।" विज्ञान और धर्म को लेकर स्वामी विवेकानन्द की सम्भवत: चरम उक्ति थी – "Science informs but Religion transforms." अर्थात् "विज्ञान तथ्य प्रस्तुत करता है, लेकिन धर्म मनुष्य के जीवन में परिवर्तन लाता है।"

स्वामी विवेकानन्द ने पाश्चात्य देशों में भ्रमण करते हुए समझा कि भारतवर्ष के विकास के लिए वैज्ञानिक चिन्तन अति आवश्यक है। पेरिस में वे वैज्ञानिक जगदीश चन्द्र बोस का व्याख्यान सुनकर मुग्ध हो गये थे। स्वामी विवेकानन्द के इस चिन्तन को रूपायित करने के लिये युवक बशीश्वर सेन उन्हीं के आदर्श से अनुप्राणित हुये और बाद में 'बोशी सेन' के नाम से ही विशेष रूप से परिचित हुए थे। आधुनिक, प्रगतिशील तथा एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक होकर भी बोशी सेन धर्म और आध्यात्मिक भाव को अपने जीवन-साधना की मुख्य शक्ति के रूप में स्वीकार करते थे।

बोशी सेन का जन्म उनके पैत्रिक निवास बाँकुड़ा जिले में स्थित विष्णुपुर कस्बे के गढ़-दरवाजा मुहल्ले में १८८७ ई. में हुआ था। पिता श्री रामेश्वर की अकाल मृत्यु हो जाने के कारण उनकी पारिवारिक स्थिति दयनीय हो गई। बोशी सेन स्थानीय विद्यालय की शिक्षा पूर्ण करके किसी को बिना कुछ बताये ही घर से निकल गये। उनका लक्ष्य था पढ़ाई-लिखाई करके समाज में सुप्रतिष्ठित होना। राँची में एक बहन के पास रहकर उन्होंने स्कूली शिक्षा पूरी की। कुछ दिन वर्धमान में पढ़ाई-लिखाई करने के बाद, उन्होंने कोलकाता के सेंट जेवियर्स कॉलेज से बी.एस.सी. की उपाधि प्राप्त की।

छात्र बोशी सेन जब कोलकाता में थे, तब उनकी जन्मभूमि बाँकुड़ा के एक अन्य युवक विभूति भूषण घोष कलकत्ते में कानून की शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। उनके साथ बोशी सेन का परिचय हुआ। विभूति बेलूड़ मठ में आना-जाना करते थे। एक दिन वे अपने मित्र बोशी सेन को भी साथ ले गये। प्रथम दिन का अनुभव बोशी सेन को सुखद नहीं लगा होगा। प्रौढ़ अवस्था में उन्होंने अपने मित्र विभूति को एक पत्र में सूचित किया था – "तुम तो जानते हो कि मैं गाँव का अपढ़ आदमी था।... पहले दिन जब तुमने श्री गुप्त महाराज (स्वामी सदानन्द) से मेरा परिचय कराया, तो उस दिन मुझे उनकी खूब डाँट-फटकार मिली थी। उसके दूसरे दिन उन्होंने मुझे भरपूर आनन्द दिया था; जिसके लिये श्रीमाँ, श्री गुप्त महाराज और मठ के सभी लोगों का स्नेह मिला।"[१]

अपने गुरु स्वामी सदानन्द के अतिरिक्त भी अनेक तत्कालीन साधुओं का स्नेह उन्हें प्राप्त हुआ था। उन्हीं के शब्दों में – "स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज को मैंने सर्वप्रथम हावड़ा स्टेशन पर देखा था। वे १९०६ ई. में स्वामी अभेदानन्दजी के साथ मद्रास से लौट रहे थे। हम छात्रों ने तय किया कि गाड़ी से घोड़ों को निकालकर स्वयं ही गाड़ी को खींचकर गन्तव्य स्थान तक ले जायेंगे। जब मैं उनकी चरण-धूलि ले रहा था, तब उन्होंने मेरे सिर का जो आशीर्वाद युक्त हस्त-स्पर्श किया था, उसका मैं अब भी अनुभव करता हूँ। उसके बाद महाराज से मेरी भेंट १९१० ई. में हुई। वे बोसपाड़ा मुहल्ले में मेरे गुरु स्वामी सदानन्द जी को देखने आये थे, जो उस समय

१. उद्बोधन, श्रीमाँ : सार्ध शतवर्ष संख्या, २००४, पृ. ३२

बीमार थे और भगिनी निवेदिता ने यह मकान इसलिये किराये पर लिया था, ताकि उसमें रहकर विभूति घोष, मेरा भाई टाबू और मैं उनकी सेवा कर सकें। मुहल्ले के लोग हम तीनों को सदानन्द के कुत्ते कहते तथा रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ संन्यासी गण हम लोगों को बड़े स्नेह की दृष्टि से देखते थे।''[२]

इसी बीच १९११ ई. में कुछ दिनों के अन्तराल में ही बोशी सेन के दो निकटस्थ लोगों की मृत्यु हो गई – एक उनके गुरु स्वामी सदानन्दजी की और दूसरी उनकी अनन्य सहायिका भगिनी निवेदिता की। बोशी सेन के सामने एक बड़ी समस्या आ खड़ी हुई। निवेदिता बोशी के कॉलेज में पढ़ने और बोसपाड़ा गली में रहने की व्यवस्था ही मात्र नहीं करती थीं, बल्कि वे बोशी की अभिभावक भी थीं। इसलिये जब बोशी सेन ने रामकृष्ण संघ में योगदान देने की इच्छा व्यक्त की तब निवेदिता ने उन्हें मना किया तथा विज्ञान के द्वारा देश की सेवा करने की सलाह दी। मठ में प्रवेश न ले पाने पर भी बोशी सेन आजीवन रामकृष्ण मठ तथा मिशन के अनुरागी बने रहे।

भगिनी निवेदिता की मृत्यु के बाद बोशी सेन वैज्ञानिक जगदीश चन्द्र के अधीन कार्य करने लगे। पूर्व में भगिनी निवेदिता ने ही बोशी सेन का जगदीश चन्द्र के साथ परिचय करा दिया था। जगदीश चन्द्र बोशी सेन को प्रतिमाह बीस रुपये देते थे। जगदीश चन्द्र के स्नेह-धन्य होकर बोशी सेन जगदीश चन्द्र बोस के शोध-कार्य में सहायक के रूप में वनस्पतियों पर शोध करते थे। आचार्य बोस के सहायक होकर बोशी उनके साथ १९१४ ई. में विदेश गये। १९२३ ई. में अमेरिकन वैज्ञानिक ग्लेन ओवर्टन आचार्य बोस के अनुसन्धान-कार्य के अनुरागी होकर इस देश में आये। 'वसु विज्ञान मन्दिर' में बोशी सेन के कार्य को देखकर ये पाश्चात्य वैज्ञानिक उनके प्रति आकृष्ट हुए और उन्हें अमेरिका ले गये।

२. स्वामी ब्रह्मानन्द स्मृति-कथा, सं. स्वामी चेतनानन्द, पृ. ३७३

विदेश से लौटने के बाद बोशी ने स्वयं ही एक प्रयोगशाला की स्थापना करने का संकल्प किया। १९२४ ई. में स्वामी विवेकानन्द के निर्वाण-दिवस ४ जुलाई को बोशी सेन ने ८ नंबर बोसपाड़ा लेन (कोलकाता) में अपने मकान के रसोईघर में एक प्रयोगशाला की स्थापना की और उसका नाम 'विवेकानन्द लेबोरेट्री' रखा। शुरू में उनकी प्रयोगशाला में केवल दो बक्से ही थे। बक्सों को आपस में जोड़कर रात में वे उसी पर सोते और दिन में शोध-कार्य करते। पर उनकी यह दशा बहुत दिनों तक नहीं रही। थोड़े दिनों में ही उनकी प्रयोगशाला अनेक उपकरणों से समृद्ध हो गयी।

प्रश्न उठता है कि आचार्य जगदीश चन्द्र बोस के स्नेह-धन्य 'वसु-विज्ञान-मन्दिर' में गवेषणारत बोशी ने किस कारण कोलकाता में एक और प्रयोगशाला स्थापित करने का संकल्प लिया? कई विवरणों से पता चलता है कि जगदीश चन्द्र और बोशी के बीच कुछ मतभेद हुआ था, इसीलिए बोशी ने स्वयं की प्रयोगशाला स्थापित की। यद्यपि उनका मतभेद अधिक दिन नहीं रहा। बाद में जगदीश चन्द्र ने बोशी को एक पत्र में लिखा – ''हमारे कुछ छात्र हमारे विश्वास की दीपशिखा को उज्ज्वल रखे हुए हैं, इससे अधिक प्रसन्नता और किससे हो सकती है?'' उत्तर में बोशी ने लिखा – ''Beloved Master, my little contribution to physiology is from the sparks which emanate from you. ... So long as life endures, wherever I might be or whatever fate may bring, you will have at least one disciple. I ask for your blessings.'' (श्रद्धेय आचार्यदेव, सामान्य जन्तु तथा वनस्पति विज्ञान में मेरा सामान्य योगदान, वह चिनगारी है, जो आपसे ही निकली हुई है। जब तक मैं जीवित हूँ, चाहे मैं जहाँ भी रहूँ, या जो कुछ भी मेरे भाग्य में मिले, कम-से-कम आपका एक शिष्य तो रहेगा ही। मैं आपके आशीष की कामना करता हूँ।)

रामकृष्ण मिशन के अनुरागी और भगिनी निवेदिता के

पुरखों की थाती

तीर्थे-तीर्थे परिभ्रम्य मूढाः काम्यन्ति मुक्तये ।
आत्मैव परमं तीर्थं यत्र मुक्तिमयो हरिः ।।

– अज्ञानी लोग ही विभिन्न तीर्थों में घूम-घूमकर मुक्ति की कामना करते हैं, क्योंकि वे नहीं जानते कि अपनी आत्मा अर्थात् हृदय ही वह परम तीर्थ है, जिसमें मुक्ति-स्वरूप परमात्मा निवास करते हैं।

तिलानां तु यथा तैलं पुष्पे गन्ध इवाश्रितः ।
पुरुषस्य शरीरे तु स बाह्याभ्यन्तरे स्थितः ।।

– जैसे तिलों में तेल और पुष्पों में सुगन्ध छिपा रहता है, उसी प्रकार वह आत्मा भी मनुष्य शरीर के बाहर तथा भीतर अदृश्य भाव से ओतप्रोत रहता है।

त्यजेद्-एकं कुलस्यार्थे
ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे
आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ।।

– मनुष्य को आवश्यकता पड़े तो पूरे कुल की रक्षा के लिये एक व्यक्ति का त्याग कर देना चाहिये; पूरे गाँव के उपकार हेतु अपने कुल का हित त्याग देना चाहिये; देश की सेवा हेतु अपने गाँव का मोह छोड़ देना चाहिये और आत्मा की अनुभूति के लिये यदि आवश्यक हो, तो पूरी दुनिया का ही त्याग कर देना चाहिये।

स्नेहपात्र होने के कारण, मिशन से युक्त अनेकों विदेशी भक्तों और अनुरागियों से उन्हें प्रयोगशाला के लिये बहुत-सी सहायता प्राप्त हुई थी। पुराने विवरणों से ज्ञात होता है कि भगिनी क्रिस्टिन भगिनी निवेदिता द्वारा स्थापित विद्यालय में शिक्षिका थी। उन्होंने बोशी की विभिन्न प्रकार से सहायता की थी। बोसी क्रिस्टिन को माँ के समान मानते थे। मिस मैक्लाउड हिमालय के एकान्त स्थल अल्मोड़ा के 'कुन्दन हाउस' नामक भवन में कुछ दिन थीं। १९३६ ई. में बोशी सेन कोलकाता से अपनी प्रयोगशाला को स्थानान्तरित करके इसी भवन के पास ले आये थे। बोशी सेन अल्मोड़ा को अपने गुरु स्वामी सदानन्द के गुरु स्वामी विवेकानन्द का प्रिय स्थल मानते थे। इसके अतिरिक्त उनकी दृष्टि में हिमालय की गोद में एकान्त स्थान ही साधना के हेतु श्रेष्ठ था। अल्मोड़ा में प्रयोगशाला स्थापित करने का उद्देश्य यह था कि शहर से बाहर स्थित यह प्रयोगशाला ग्रामीण लोगों में वैज्ञानिक मानसिकता बढ़ाने में सहायता करेगी।

इसी बीच अमेरिका के शिकागो विश्वविद्यालय की स्नातक, रॉयल ज्योग्रैफिकल सोसाइटी की फेलो, सोसाइटी ऑफ वीमेन ज्योग्रैफर्स की संस्थापक-सदस्य, अमेरिका एशियाटिक सोसाइटी की सदस्य और 'एशिया' पत्रिका की सम्पादिका ग्रैट्रुड इमर्सन के साथ बोशी का श्रद्धायुक्त स्नेह-सम्बन्ध जुड़ गया। ग्रैट्रुड भारत में कई बार आई थीं। उन्होंने इस देश के गाँवों में काफी समय बिताया था। इस देश के बारे में उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया और अनेक लेख तथा कई ग्रन्थ भी लिखे। उनका निबन्ध 'वॉयेसलेस इंडिया' (आवाजरहित भारत) ग्रन्थ के विदेशी संस्करण की भूमिका स्वयं रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखी। बोशी सेन का ग्रैट्रुड इमर्सन के साथ विवाह २ नवम्बर, १९३२ को कोलकाता में हिन्दू रीति के अनुसार सम्पन्न हुआ। बोशी सेन द्वारा स्थापित 'विवेकानन्द-अनुसन्धान-शाला' उनके जीवन का सबसे बड़ा अवदान होने पर भी, वस्तुत: उनकी पत्नी ग्रैट्रुड इमर्सन के साथ युगल प्रचेष्टा थी।

बोशी सेन मात्र एक असाधारण आधुनिक वैज्ञानिक ही नहीं थे। वे स्वामी विवेकानन्द के आदर्शों से अनुप्राणित एक देशप्रेमी, स्वदेश के लिये आत्म-बलिदान हेतु सर्वदा प्रस्तुत रहनेवाले एक निडर सैनिक भी थे। इस देश की दु:ख-पीड़ा तथा अभाव से स्थिर नहीं रह सके और देश में खाद्य-पदार्थों के अभाव आदि मूलभूत समस्याओं के समाधान में लग गये थे। इसीलिए हम देखते हैं कि १९४३ ई. में बंगाल में आये भयंकर अकाल के बाद से उन्होंने वनस्पति-शास्त्र के सैद्धान्तिक खोजों के स्थान पर उसके फलित पक्ष के शोध में ही अपनी सारी शक्ति लगा दी। इस देश में उन्होंने ही सर्वप्रथम गेहूँ, मक्का, ज्वार, बाजरा आदि की संकर प्रजातियों का सफलतापूर्वक विकास किया। उत्तर प्रदेश में कृत्रिम मशरूम की खेती के वे अग्रदूत थे। विभिन्न सब्जियों के गुणगत स्तर को उन्नत करने के क्षेत्र में उनका शोध तत्कालीन दृष्टि से अति महत्त्वपूर्ण था। इसके सिवाय उन्होंने वनस्पति-कोश, कोष-तत्त्व, शारीर-तत्त्व, वनस्पति-हारमोन, संकरायन आदि के क्षेत्र में पूरे विश्व में उनके शोध की ख्याति फैल गयी थी। उनके शोधपरक लेख देश-विदेश की अनेक शोध-पत्रिकाओं में बिखरे हुए हैं। ३१ अगस्त, १९७१ ई. को उनके कर्मशील जीवन का अवसान हुआ। उनके देहत्याग के बाद उनकी अनुसन्धान-शाला का महत्त्व बढ़ने लगा। केन्द्र सरकार ने इसके परिचालन का भार इंडियन कांउसिल आफ एग्रिकल्चरल रिसर्च को सौंप दिया। आई.सी.ए.आर. के इतिहास में बोशी सेन के संस्थान के विषय में लिखा गया है – "आज जो संस्था 'विवेकानन्द पर्वतीय कृषि अनुसन्धान-शाला' के नाम से परिचित है, उसे ४ जुलाई, १९२४ ई. में 'विवेकानन्द-प्रयोगशाला' के नाम से प्राध्यापक बोशी सेन द्वारा स्थापित किया गया था। स्वामी विवेकानन्द के आदर्श से अनुप्राणित होकर दरिद्र, अनाहारग्रस्त देशवासियों की सेवा के लिये बोशी सेन ने स्वयं ही इस प्रयोगशाला की स्थापना की थी। १९३६ ई. में बोशी सेन ने इस प्रयोगशाला को अल्मोड़ा में स्थानान्तरित किया।... अक्तूबर, १९७४ ई. में उत्तर प्रदेश सरकार ने इस प्रयोगशाला को आई.सी.ए.आर. को हस्तान्तरित कर दिया।

वैज्ञानिक अनुसन्धान के क्षेत्र में असाधारण योगदान के फलस्वरूप भारत सरकार ने बोशी सेन को १९५७ ई. में 'पद्मभूषण' की उपाधि से सम्मानित किया। १९६२ ई. में उन्हें 'वातुमल फाउंडेशन' का पुरस्कार दिया गया। बोशी सेन को देश-विदेश के अनेक विज्ञान-संस्थानों ने सम्माननीय सदस्य का पद प्रदान किया था। उन्होंने कई बार अन्तर्राष्ट्रीय विज्ञान सम्मेलन में भारत का प्रतिनिधित्व भी किया था।

विशिष्ट साहित्यकार प्रबोध कुमार सान्याल ने अपने "देवात्मा हिमालय" नामक ग्रन्थ में बोशी के साथ अपने प्रथम वार्तालाप का वर्णन किया है। वे लिखते हैं – "एक विशिष्ट बंगाली का नाम हम लोग बातचीत के दौरान प्राय: ही सुना करते थे कि यहाँ उनका अपना एक पहाड़ है, वहाँ उनकी बहुत-बड़ी खेती-बारी और अनुसन्धान-शाला है।... उन सज्जन का नाम बोशीश्वर सेन है।... साहस करके एक दिन सुबह मैं गया।... साँवला बदन, लम्बा शरीर, उम्र ६० से कम नहीं थी। बोशी दादा का वैज्ञानिक सब्जी का खेत था। उसमें एक प्याज ५ पाव का था, एक बैगन का वजन ढाई किलो, इसी अनुपात में अन्य सब्जियाँ भी थीं। ये विज्ञान-सम्मत क्रासब्रीडिंग (संकरण) में गवेषणा द्वारा प्राप्त पौधे थे। भारतीय वनस्पति -विज्ञान में बोशीदा ने ही सर्वप्रथम 'फलन-बीज-स्वत्व' लेकर अति सूक्ष्म स्तर पर अन्वेषण की क्रिया-प्रक्रिया (micro-manupulation) शुरू की थी। ❑❑❑

विवेकानन्द विद्यापीठ, भोपाल का अधिग्रहण

६ अप्रैल २००६ ई. को रामकृष्ण आश्रम, भोपाल को रामकृष्ण मिशन की एक शाखा के रूप में बेलूड़ मठ के संचालकों ने अधिगृहित किया था। किन्तु उसी की उपशाखा के रूप में भोपाल के पिपलानी अंचल में स्थापित विवेकानन्द विद्यापीठ अब तक स्वामी आत्मभोलानन्द जी के द्वारा संचालित हो रहा था। रामकृष्ण मिशन आश्रम, भोपाल ने उस विद्यालय का भी संचालन करना स्वीकार कर लिया। विद्यालय का हस्तान्तरण समारोह बुधवार, १६ अप्रैल २००८ को दिन में साढ़े ११ बजे सम्पन्न हुआ। उक्त अवसर पर आश्रम परिसर में आयोजित सभा को बेलूड़ मठ से आये रामकृष्ण मठ और मिशन के महासचिव स्वामी प्रभानन्दजी महाराज, वहीं से पधारे स्वामी प्रमेयानन्दजी महाराज तथा चेन्नई रामकृष्ण मठ के अध्यक्ष स्वामी गौतमानन्दजी महाराज ने सम्बोधित किया।

उसी दिन संध्या को ६ बजे बेलूड़ मठ से आये रामकृष्ण मिशन के संचालक-मण्डल के माननीय संन्यासीवृन्द आश्रम से ६ किलोमीटर दूर स्थित विवेकानन्द विद्यापीठ के परिसर में पहुँचे। उन लोगों ने विद्यालय परिसर का परिदर्शन किया। लगभग ७ बजे करीब १००० भक्तों एवं शुभचिन्तकों की उपस्थिति में विवेकानन्द विद्यापीठ का समर्पण सम्पन्न हुआ। इस कार्यक्रम के विशेष अतिथि के रूप में मध्य प्रदेश के वाणिज्य कर मंत्री श्री बाबूलाल गौर भी उपस्थित थे।

उक्त कार्यक्रम के उपरान्त श्रीमत् स्वामी राजेश्वरानन्दजी सरस्वती का 'राम-चरित-मानस' पर संगीतमय प्रवचन हुआ।

कड़पा केन्द्र के कार्यक्रम

आन्ध्र प्रदेश के कड़पा में स्थित रामकृष्ण मिशन में १३ मार्च २००८ ई. को रामकृष्ण संघ के महासचिव स्वामी प्रभानन्दजी महाराज ने श्रीरामकृष्ण-बालक-आश्रम का उद्घाटन किया। उसके बाद स्वामी गौतमानन्दजी की अध्यक्षता में एक सार्वजनिक सभा भी हुई। इस बालक-आश्रम में ग्रामीण क्षेत्रों के मेधावी परन्तु आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हाईस्कूल के छात्रों को नि:शुल्क शिक्षा देने की योजना है। २५ फरवरी को इस केन्द्र ने ग्रामीण युवकों के लिये सप्ताह-व्यापी कृषि-प्रशिक्षण कार्यक्रम का आयोजन किया। आश्रम के वार्षिकोत्सव के उपलक्ष्य में पहली बार १३ मार्च से चार दिनों का एक साधना-शिविर भी आयोजित किया गया।

श्रीरामकृष्ण उवाच –

सरलता का गुण

जब तक मनुष्य बच्चों जैसा सरल नहीं हो जाता, तब तक उसे ज्ञानलाभ नहीं होता। सब दुनियादारी, विषय-बुद्धि को भूलकर बालक जैसे नादान बन जाओ, तभी तुम ज्ञान प्राप्त कर सकोगे।

सरल होने पर सहज ही ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है। मनुष्य अगर सरल हो तो उसे दिये गए उपदेश शीघ्र फलीभूत होते हैं। जोती हुई जमीन में, जिसमें कंकड़-पत्थर न हों, बीज पड़ते ही पेड़ उग जाता है और वह शीघ्रता से बढ़कर फल भी देने लगता है।

श्रीरामकृष्ण कहा करते – "बहुत तपस्या, अनेक साधना करने के बाद ही मनुष्य सरल और उदार होता है। सरल हुए बिना ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती। सरल हृदय वाले मनुष्य के सम्मुख ही ईश्वर अपना स्वरूप प्रकट करते हैं।" परन्तु सरल और सत्यवादी बनने के नाम पर कोई मूर्ख न बन बैठे, इसलिए श्रीरामकृष्ण सब को सावधान करते हुए कहा करते – "तुम भक्त बनो पर इसका मतलब यह नहीं कि तुम बुद्धू बनो।" अथवा "मन में सदा विवेक-विचार करना चाहिए – सत् क्या है और असत् क्या, नित्य क्या और अनित्य क्या। फिर जो अनित्य है, उसे छोड़कर नित्य वस्तु ईश्वर में मन लगाना चाहिए।"